'जूठन' एवं 'अक्करमाशी' : एक तुलनात्मक अध्ययन

(हैदराबाद विश्वविद्यालय की एम्. फिल्. उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध)

1999

शोधार्थी :

भाग्यवती, एम. ए.

विभागाध्यक्ष :

प्रो. नूरजहाँ बेगम

एम. ए. (हिन्दी), एम. ए. संस्कृत

पीएच. डी., डी. लिट्.

हिन्दी विभाग,

हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद–500 046.

निर्देशक :

डॉ. रवि रंजन

हिन्दी विभाग,

हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद–500 046.

CERTIFICATE

This is to certify that Bhagyavati.M is a bonafide student of Department of Hindi, School of Humanities, University of Hyderabad. The dissertation entitled "Jothan evam Akkarmashi : ek tulanatmak adhyayan" is a bonafide record of the research work done under my supervision for the award of M.Phil Degree in partial fulfillment of the course.

Place : Hyderabad
Date : 22/4/99

(Ravi Ranjan)
Supervisor
Department of Hindi,
University of Hyderbad,
Hyderabad – 500 046.

Prof & Head of the Department

Prof. & Head, Dept. of Hindi
School of Humanities
University of Hyderabad
HYDERABAD-500 134

Dean 22/4/99

DEAN
SCHOOL OF HUMANITIES
University of Hyderabad.
Hyderabad-500 134

Declaration

I hereby declare that this Dissertation entitled 'Joothan evam Akkarmashi : ek tulanatmak Adhyayan' has been written by me under the supervision of Dr. Ravi Ranjan, Department of Hindi, University of Hyderabad, in partial fulfillment to the requirement of M.Phil Degree.

I also declare that this dissertation is the result of my own effort and has not been submitted to any other University before for any degree or Diploma.

Place : Hyderabad
Date : 22/4/99

Bhagyavati. M
Reg. No. 97HHHL08.

"जूठन" एवं "अक्करमाशो" : एक तुलनात्मक अध्ययन

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

भूमिका

अध्याय एक :

1. भारतीय सामाजिक संरचना और दलित

1.1 सामन्ती समाज व्यवस्था

1.2 वर्णाश्रम व्यवस्था और दलित

1.3 दलित मुक्ति आन्दोलन व विचारधारा

अध्याय दो :

2. दलित साहित्य : अवधारणा एवं स्वरूप

2.1 दलित साहित्य की अवधारणा

2.2 दलित साहित्य का स्वरूप

2.3 सवर्ण साहित्य बनाम दलित साहित्य

2.4 दलित आत्मकथा लेखन

अध्याय तीन :

3. "जूठन" और "अक्करमाशो" : तुलनात्मक विश्लेषण

3.1 अन्तर्वस्तु

3.2 जीवन स्थिति : साम्य : वैषम्य

3.2.1 बचपन

पृष्ठ संख्या

3·2·2 किशोरावस्था

3·2·3 युवावस्था

3·3 सामाजिक स्थितियों का चित्रण : साम्य : वैषम्य

3·4 व्यवस्था के प्रति आक्रोश

उपसंहार

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सहायक ग्रन्थ सूची

पत्रिका सूची

0

0

0

0

0

0

0

0

0

0

0

0

0

1 ଅଙ୍କ ଶୂନ୍ୟ

0

0

0

0

0

0

0

0

0

0

0

0

0

भूमिका

आज यह सर्वविदित है कि दलित साहित्य उन लोगों की पुकार है, जो सदियों से दबे रहे या जिन्हें ऐसा करने के लिए मजबूर किया गया । यह उन लोगों की रचनाधर्मिता है, जो जातिवादी शोषण के कारण छट पटाते रहे, जुल्म सहते रहे । अस्पृश्यता का कलंक तो उन्हे मिला ही, साथ-साथ सामाजिक , आर्थिक व धार्मिक ~~प्रश्न~~ पाखंड के जाल में वे जकड़े रहे । उन्होंने अपने ऊपर होते अत्याचारों की वेदना को जिस साहित्य के माध्यम से उजागर किया, वही आज दलित साहित्य के रूप में प्राप्त है ।

मराठी साहित्यकारों ने दलित संवेदना से सम्पृक्त दलित चेतना को रचनात्मक अभिव्यक्ति को प्रश्रय तो दिया ही, साथ ही सम्पूर्ण भारतीय साहित्य पर एक प्रश्न चिन्ह भी लगाया । दलितों की सम्पूर्ण वेदना उत्पीड़न, वंचना पीड़ा से उत्पन्न अभिव्यक्ति ने सवर्ण समाज की व्यवस्था, संस्कृति व हिन्दू धर्म से उपजी मानसिकता को भी झकझोर दिया । महाराष्ट्र में इस प्रकार का रचनात्मक आन्दोलन १९60 से प्रारंभ हुआ, जो मराठी साहित्य में सामाजिक परिवर्तन की मांग को लेकर प्रस्तुत हुआ है और कालान्तर में यह मनुष्य को भी एक नई पहचान कराने वाला साहित्य सिद्ध हुआ है । हांलाकि इससे पूर्व ही दलित नाट्य रंगमंच वहां जोर-शोर से चल पड़ा था, पर दलित साहित्य से दलितों-शोषितों का सामाजिक विद्रोह उजागर हुआ है ।

इस सन्दर्भ में कमलेश्वर का कथन सही है कि "जिस देश की आधी मानवता अपमान से पीड़ित हो, उस देश में स्वाभिमान से यह कह सकने वाला साहित्य कि "हम अपमान से पीड़ित मानवता के लिए अपने को समर्पित करते हैं" -- मराठी के दलित -साहित्य के अलावा दूसरा नहीं है ।"

सोहनपाल सुमनाक्षर के शब्दों में "दलित - साहित्य दलितोत्थान का साहित्य है । यानि वह साहित्य जो दलितों, प्रताड़ित पीड़ितों, शोषितों, उपेक्षित और असहाय वर्ग को उत्थान और नव विकास के लिए प्रेरित करता है, जो ऐसे व्यक्तियों को उनके गौरवमय, इतिहास से परिचित कराते हुए उनको उनको मानवीयता को पहचान से अवगत कराता है या वह साहित्य है जो धरती से जुड़े लोगों को उनको समस्या औरदुर्दशा से अवगत कराते हुए उनको निराकरण और समाधान के उपाय बताता है । दलित साहित्य वह खरा सिक्का है, जो एक तरफ आदमी के आंसू पोंछता है, तो दूसरी तरफ संकीर्णता को उसका रास्ता नपवाता है । साहित्य व्यक्ति को उसको औकात दिखाता है और उसे आदमी को हद नहीं बांधने देता ।"

डा० पानतावणे ने दलित साहित्य को व्याख्या इसप्रकार को है·· "दलित साहित्य आन्दोलन दलित मुक्ति संग्राम का एक अंग है । "स्व" को खोज, अस्मिता को खोज का प्रभावी प्रयत्न है । मराठी वाङ्मय में दलितों का इसके पहले कोई चित्र नहीं खींचा गया था । इस जीवन को चित्रित करने का प्रयत्न ही दलित साहित्य है ।"

एक मत के अनुसार -- "दलित साहित्य अभिजात वर्ग, बुर्ज्वा या भद्रलोक के राजसी सुविधा-भोगी रचनाकर्म का भण्डाफोड़ x करने वाला संघर्ष-मूलक साहित्य है ।"

प्रा· मा·नि· चिटणीस का कहना है कि "धर्म और सामाजिक रूढ़ियों को जिन्हें आज तक बहिष्कृत माना है, उन लेखकों के साहित्य को ही दलित साहित्य कहना चाहिए । उसका स्वतन्त्र अनुभव विश्व है ।"

श्री माता प्रसाद जी का ए कथन है कि "दलित - साहित्य वह साहित्य है, जो वर्ग समाज में, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक शैक्षणिक और राजनीतिक दृष्टि से दलित शोषित उत्पीड़ित, अपमानित, उपेक्षित, तिरस्कृत, वंचित, पराश्रित साहित्य को जो रचनाएं होती हैं, वही दलित साहित्य की श्रेणी में आती है । इससे बन्धनों में जकड़ी स्त्रियां, बन्धुआ मजदूर, दास, घुमन्तु जातियां, अनुसूचित जातियां और अनुसूचित जनजातियां आती हैं । दलित साहित्य वेदना, चीख, और छट पटाहट का साहित्य हैं ।"

हिन्दी एवं मराठी में चल रहे समसामयिक दलित विमर्श से प्रेरणा पाकर अपने लघु शोध प्रबंध के लिए मैंने ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा "जूठन" तथा शरणकुमार लिंबाले की आत्मकथा "अक्करमाशी" का तुलनात्मक अध्ययन करने का निश्चय किया है । विवेचन की सुविधा के लिए इस लघु शोध प्रबन्ध को तीन अध्यायों में विभक्त किया गया हैं ।

प्रथम अध्याय में सामंती समाज व्यवस्था की विसंगतियों पर विचारते हुए दलित समुदाय की विविध समस्याओं पर दृष्टिपात किया गया है ।

दूसरे अध्याय में दलित साहित्य की अवधारणा को अपनीशक्ति एवं सीमा में स्पष्ट करते हुए उसके स्वरूप पर विचार किया गया है । इस अध्याय में सवर्ण लेखन से दलित लेखन के गुणात्मक अन्तर पर भी प्रकाश डाला गया है ।

तीसरे अध्याय में "जूठन" तथा "अक्करमाशी" पर तुलनात्मक दृष्टि से विचारते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि एवं शरण कुमार लिंबाले की जीवनस्थितियों के साथ-साथ रचनात्मक निजीपन पर भी दृष्टिपात किया गया है ।

शोध प्रबन्ध के अन्त में प्राप्त निष्कर्षों को "उपसंहार" के अंतर्गत सूत्रबद्ध करने का प्रयास किया गया है ।

मैं माता-पिता के आत्मीय स्नेह एवं योगदान के प्रति नतमस्तक हूँ तथा बहन द्वारका के प्रति कृतज्ञ हूँ, जो मेरे शोध कार्य को पूर्ण करने में आत्मिक सहयोगी रही । साथ ही मैं अपने सभी भाइयों के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ, जिनका सहयोग किसी न किसी रूप में मुझे प्राप्त होता रहा है ।

यह परम सौभाग्य है कि मुझे गुरू व निर्देशक डा० रविरंजन को देख-रेख में शोध करने का सुअवसर मिला । यह उनकी प्रेरणा व सफल निर्देशन का ही परिणाम है कि मैं अपने शोध-कार्य को सफलतापूर्वक समाप्त कर पायी ।

साथ-ही-साथ इस शोध कार्य को सम्पन्न करने में जिन तमाम महानुभावों का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहयोग मुझे प्राप्त हुआ मैं उन सबके प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ ।

Bhagyawati 22/4/99

हैदराबाद

भाग्यवती माणिकराव वानखेडे

दिनांक : 22/4/99

अध्याय एक

1. भारतीय सामाजिक संरचना और दलित

1.1 सामन्ती समाज व्यवस्था

1.2 वर्णाश्रम व्यवस्था और दलित

1.3 दलित मुक्ति आन्दोलन व विचारधारा

अध्याय एक

1. भारतीय सामाजिक संरचना और दलित

किसी भी समाज की संरचना को जानने समझने के लिए यह बहुत जरूरी है कि उस समाज विशेष में प्रचलित उत्पादन सम्बन्धों का बारीकी के साथ अध्ययन एवं विश्लेषण किया जाए । इस दृष्टि से भारत की सामाजिक संरचना पर विचारते हुए जब हम मौजूदा उत्पादन सम्बन्धों पर दृष्टिपात करते हैं तो स्पष्ट होता है कि यह संरचना अर्धसामन्ती एवं अर्धपूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के घाल-मेंल से निर्मित है ।

कहना न होगा कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद के भारत में पदार्पण के पूर्व यहाँ की सामाजिक व आर्थिक संरचना मूलत: व अन्तत: सामन्ती थी । जिसके फलस्वरूप कृषि उत्पादन की प्रक्रिया में भागीदारी करने वाले छोटे किसानों एवं भूमिहीन खेत-मजदूरों का, उत्पादन के साधन एवं उत्पाद पर कोई अधिकार नहीं था । दूसरे शब्दों में कहें तो उत्पादन के साधनों के साथ-साथ उत्पाद पर पूर्ण स्वामित्व केवल बड़े किसानों एवं भूमिपतियों का ही था । प्रसंगात ऐंगल्स ने सही लिखा है कि "उत्पादन और उत्पादित वस्तुओं का विनिमय ही प्रत्येक समाज - व्यवस्था का आधार है । इतिहास में जितनी भी सामाजिक व्यवस्थाएं हुई हैं उनमें से प्रत्येक की वितरण पद्धति और प्रत्येक का वर्ग-विभाजन इस बात पर निर्भर रहा है कि उस समाज में क्या उत्पन्न होता है ? कैसे उत्पन्न होता है ? और किस प्रकार उसका विनिमय होता है ?"[1]

---

1. हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना : पृष्ठ 78 से उद्धृत

एंगेल्स के उपर्युक्त मंतव्य के आलोक में भारतीय समाज व्यवस्था पर दृष्टिपात करने से जाहिर होता है कि मध्यकाल के अंतिम चरण तक समाज मोटेतौर पर दो वर्गों में विभक्त था । सामन्तवर्ग एवं कृषि कार्यों में संलग्न भूमिहीन मजदूर वर्ग । कहना न होगा यह दूसरा वर्ग आर्थिक दृष्टि से घनघोर विपन्नता की जिन्दगी जीने के लिए अभिशप्त था ।

इतिहासकारों एवं समाजशास्त्रियों में से जिन लोगों ने केवल आर्थिक कारणों को ही एक मात्र निर्धारक तत्व मानने के बजाय अन्यान्य सामाजिक एवं जातिगत कारणों पर भी दृष्टिपात किया है उनका कहना है कि सामन्ती समाजव्यवस्था में वर्चस्व-प्राप्त वर्गों ने अपने निहित स्वार्थों के चलते धर्म का दुरूपयोग करते हुए समाज को एक ऐसे क्रमागत ढाँचे में विभक्त कर दिया जिससे कि सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि इस ढाँचे की निचली सीढ़ी पर खड़े समुदाय के लिए उन्नति की सारी सम्भावनाएं समाप्त हो गई । साफ शब्दों में कहें तो सामन्ती समाजव्यवस्था में प्रभुत्वशाली वर्गों ने ब्राह्मणवादी विचारधारा के माध्यम से एक ऐसी अमानवीय व्यवस्था का बीजारोपण किया जिसके घिनौने अवशेष आज भी विद्यमान हैं । जाहिर है कि भारत में इतिहास-प्रवाह में जिस समुदाय को उपर्युक्त अमानवीय समाजव्यवस्था की क्रूरता का सबसे अधिक खामियाजा भुगतना पड़ा है, वह दलित समुदाय ही है । इसीलिए आज वह तमाम ब्राह्मणवादी मान्यताओं के विरूद्ध विद्रोह कर रहा है ।

1.1 सामन्ती समाज व्यवस्था :

समाजवाद , पूंजीवाद, अधिनायकवाद जैसी सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्थाओं की भांति ही सामन्तवाद भी एक व्यवस्था है जिसका प्रादुर्भाव मध्यकाल की विशेष परिस्थितियों के गर्भ में हुआ । सामन्त राजा के अधीनस्थ ऐसा अधिकारी था जिसे अनुदान के रूप में भूमि प्राप्त होती थी । उसके कुछ

परम्परा से निर्धारित प्रशासनिक अधिकार एवं सामाजिक दायित्व होते थे जिनमें कृषि व्यवस्था एवं कर वसूली, राज्यरक्षण और स्वामिभक्ति प्रमुख थे ।

सामन्तवाद के अभ्युदय के सन्दर्भ में "इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका" में लिखा गया है कि "सामन्तवाद के जन्म में सुरक्षा की भावना मुख्य थी । असम्भावित विदेशी आक्रमण तथा सरकारी अफसरों की अनियन्त्रित मांगों से मुक्ति पाने के लिए एक ऐसी उच्चतर सत्ता की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी जो उन्हें किसी भी मूल्य पर सुरक्षा दे सके । स्वतन्त्रता की यही भावना सामन्तवाद के अभ्युदय की प्रथम सीढ़ी थी ।"[1]

इसके तहत लोगों ने अपनी सम्पत्ति व सुरक्षा का भार इन सामन्तों को सौंप दिया । यही नहीं छोटे-छोटे भूस्वामियों ने अपने सभी अधिकार एक उच्चतर सत्ता को सौंप दिये, बदले में उन्हें स्वामीभक्ति व प्रभु का आज्ञा-पालन करना पड़ता था जहां लोगों ने अपनी सुरक्षा हेतु इस सत्ता को अपना रक्षक समझा था वहीं सत्ता न केवल इनके भक्षण का कारण बनी, बल्कि इनको विभिन्न प्रकार के यातनाओं का शिकार भी बनाया ।

यदि देखा जाए तो सामन्तवाद के विकास का सबसे बड़ा कारण ब्राह्मणों और मन्दिरों को भूमि अनुदान देना था और यह व्यवस्था अनुवांशिक थी । राजाओं को युद्ध में मदद करने हेतु राजा प्रसन्न होकर सामन्तों को भूमि दिया करते थे । परम्परा से यही भूमि वंशानुगत हो गयी । कर्मचारियों को भूमि नकद वेतन के रूप में मिलती थी । जिस कारण सामन्त कृषकों से बेगार लेते थे । साथ ही इनके कहीं भी जाकर बसने पर प्रतिबंध भी था । इस कारण निम्नवर्ग की दशा अत्यन्त शोचनीय थी । इनकी अपनी स्वयं की भूमि न थी ।

---

1. द इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका : पृष्ठ 204

इनको प्रभु को भूमि पर कार्य करना पड़ता था । सामन्त किसी भी प्रकार से शोषण करने के लिए स्वतन्त्र था ।

ए॰सी॰ बनर्जी का मानना है कि "सामन्तवाद का विकास उन विशेष परिस्थितियों में हुआ । जब राजतन्त्र जनसाधारण को सुरक्षा की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ सिद्ध हुआ तब इन्होंने इसका स्थानापन्न ढूँढा जो उन्हें सर्वशक्तिमान कुलीनवर्ग के रूप में प्राप्त हुआ । इस कुलीन वर्ग ने राजा के कुछ अधिकार और शक्तियाँ हस्तगत कर ली तथा कुछ कर्तव्यों का भार भी ग्रहण कर लिया । जिसके परिणामस्वरूप सत्ता का विभाजन हो गया ।"।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजाओं के कमजोर पड़ने के कारण इन सामन्तों ने अपना अधिकार जमा लिया व गरीबों को अपनी शक्ति सुदृढ़ बनाने की ढाल बनायी ।

मध्यकाल तक आते-आते सामन्तों के अधिकार असीमित और अनियन्त्रित हो गये । भूमि पर इनका एकाधिकार स्थापित हो गया था । वे अपनी इच्छानुसार कृषकों को बेदखल कर सकते थे । उन्होंने अनेक उचित और अनुचित कर कृषकों पर लगाए जिससे कृषकों की दशा दासवत् हो गयी । उनकी शक्ति व प्रभुत्व इतना बढ़ गया कि राजा केवल नाममात्र का शासक रह गया ।

सामन्तों के कर्तव्य और अधिकार सामान्यतः सुनिश्चित थे और ये कभी-कभी राजा को अपदस्थ कर सकते थे । राज्य कर्मचारियों की संख्या कम थी और उनका स्वरूप सामन्ती होता जा रहा था । स्थानीय शासन मुख्यतः सामन्ती ढंग के कर्मचारियों सामन्तों और उनके परिवार के हाथों में था ।

।॰ ए॰सी॰ बनर्जी : लेक्चर आन राजपूत हिस्ट्री : पृ॰132-33

"भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व में जाने से कृषकों की दशा हीनतर होती जा रही थी । उनके ऊपर करों का बोझ बढ़ रहा था वे चरगाह, कूप, ताल आदि का उपभोग कर सकते थे अनुदान भोगी परती जमीन को निजी जायदाद बना सकते थे । और ग्रामीण लोग चाह कर भी जोत नहीं बढ़ा सकते थे ।"[1]

किसानों की दशा और अधिक बिगड़ने का एक अन्य कारण बेदखली की प्रथा थी । अनुदार भोगियों को यह अधिकार था कि वे अपनी भूमि के जोतदारों को बेदखल कर सकते थे । पालों के राज्यों में किसान "सर्वपीड़ा" के भागी थे प्रतिहारों के राज्य में अनुदान ग्रहीता को "विष्टि" का अधिकार भी सौंप दिया था ।

साथ ही सामन्तों को जो गाँव दान दिया जाता था साथ में वहाँ के कारीगर, लुहार, सुनार आदि का भी उनका हुक्म मानना पड़ता था । दुकानों व व्यापारियों को आय का एक निश्चित भाग मन्दिरों को शुल्क के रूप में देना पड़ता था । स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति स्थानीय तौर पर तैयार और पैदा की चीजों से होती रही । यही सामन्तवादी व्यवस्था का आधार था ।

सामन्ती व्यवस्था मुख्य रूप से शोषण पर आधारित थी यह शोषण आर्थिक तो होता ही था शारीरिक भी था । गुप्तकाल से शूद्र लोग, जिन्हें ऊपर के तीन वर्णों का सेवक और दास माना जाता था, किसान बनते जा रहे थे और पुराने किसान अर्धदासत्व की अवस्था में पहुँचे थे । इसका कारण ग्रामवासियों पर बढ़ते हुए कर थे । जिसे चुकाने में किसान असमर्थ थे ।

---

1. भारतीय सामन्तवाद : पृ. 120

बेगार प्रथा सामन्ती युग की विशिष्ट देन है । श्रमिकों को भी मोल ले लिया जाता है । दिन भर काम करने पर भी श्रमिकों को उनको बेगारी नहीं मिलती थी, न ही उनके अथक परिश्रम व खून पसीने से उगाई गई फसल का मूल्य भी । सामन्त अथवा जमींदारों को किसानों से बेगार लेने का अधिकार प्राप्त था । चमारों इत्यादि निम्न जाति के लोगों को जमींदारों के दरबान की भांति काम करना पड़ता था । केवल जमींदार का ही नहीं अपितु जमींदार वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति के लिए जो उनके गांव की सीमा से गुजरता था उन्हें बेगार करना पड़ता था यदि वे उक्त कार्यों को मनाही करते तो उन्हें तरह-तरह से दण्डित किया जाता था । बेगार प्रथा का ही दूसरा रूप बन्धुआ मजदूरी थी जिसमें थोड़ा-सा ऋण देकर व्यक्ति को जीवनपर्यन्त जमींदारों और ठेकेदारों की बेगारी करनी पड़ती थी ।

भारत के किसान ही नहीं बल्कि अन्य देशों के किसान भी सामन्त व जमींदारों के द्वारा पीड़ित थे । इस सन्दर्भ में स्वामी सहजानन्द कहते हैं कि "इस मजदूरों तथा किसानों पर इससे भी बड़ा जादू सवार था । वे तो अपने शोषकों के सरदार को, बादशाह को छोटे भगवान मानते थे । वे इतने पस्त थे कि न तो उनमें किसानों को लाल झण्डा उठाने की हिम्मत थी, न स्वतन्त्र सभा करके उस भयंकर शोषण का विरोध करने की जुर्रत थी और न किसानों को उनकी नेताओं के साथ चलने की शक्ति ही थी ।"[1]

इस प्रकार सामन्तों की शक्ति सुदृढ़ होती जा रही थी व उनके अत्याचारों से किसानों को अत्यधिक विषमताओं का सामना करना पड़ रहा था और साथ ही दास प्रथा, जो सामन्ती समाज व्यवस्था की विशेष प्रवृत्ति थी, का प्रचलन बढ़ रहा था । सामन्ती व्यवस्था में दासों से तात्पर्य ऐसे लोगों से था जिनका

---

1. किसान कैसे लड़ते हैं : पृ. 57

स्वयं कोई अस्तित्व नहीं था । इन दासों के साथ अत्यन्त निकृष्ट व्यवहार किया जाता था । दास रखना इस काल की विशेष प्रवृत्ति थी । दासों का क्रय-विक्रय तथा उन्हें शारीरिक कष्टदेना सामन्तों की सहज वृत्ति थी । यह प्रवृत्ति मध्यकाल तक चरमोत्कर्ष तक थी दास प्रथा के स्थान पर कृषि दासत्व की प्रथा विकसित हो रही थी । कृषकों को इनके खेतों पर काम करने पर पारिश्रमिक नहीं मिलता था व इनकी (कृषक स्त्रियाँ) लुगाईयों को इनके घरों का काम करना पड़ता था । निम्न वर्ग से भी बलात बेगार ली जाती थी ।

इस प्रकार सामन्ती समाज में मुख्यत: दो ही वर्ग होते थ एक अभिजात या कुलीन, दूसरा वर्ग किसानों और मजदूरों का होता था । एंगेल्स ने "राजसत्ता का उद्भव" नामक अपने ग्रन्थ में बताया है कि "स्वाभाविक प्रक्रिया से उत्पन्न जनतंत्र कैसे सामन्ती समाज में घृणित अभिजात तंत्र में बदल जाता है । ये अभिजात या सर्वोत्तम लोग जनसेना को निजी सेना में बदल देते हैं ।"[1] वस्तुत: कुलीन वर्ग काम नहीं करना चाहता था । इसीलिए उसे विशेषाधिकार प्राप्त थे । आपात् काल में शूद्र से भी अन्न ग्रहण करना ब्राह्मण का विशेषाधिकार था तो आपात्काल में शूद्र की सम्पत्ति का बलात् अधिग्रहण क्षत्रिय का विशेषाधिकार था । इनका विशेषाधिकार इन्हीं निर्बल दलितों पर टिका हुआ था । सामन्ती व्यवस्था में दलित समुदाय का शोषण ही सभ्रान्तों का विशेषाधिकार था ।

एंगेल्स ने "प्रिंकेपिटलिस्ट" में लिखा है "यह वह व्यवस्था है । जिसमें सामन्तवाद का विघटन प्रारम्भ होता है और पूंजीवाद का अभ्युदय ।"[2] परन्तु सामन्तवादी व्यवस्था पूरी तरह न कमजोर हुई, न समाप्त, बल्कि किसी न किसी रूप में कायम रही ।

---

1. दलितों की रूपान्तरण की प्रक्रिया : पृ.57-59
2. कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र : पृ.64

इस प्रकार हम देखते है कि मध्यकाल से लेकर अब तक सामन्तवादी व्यवस्था किसी न किसी तरह कायम रहती आई है । इस व्यवस्था में निम्न वर्ग के लोगों को अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा है । इसमें शुद्रों की स्थिति अत्यन्त दयनीय रही है वस्तुत: यही शुद्र , दलित वर्ग है जो मध्ययुगीन सामन्ती समाज में अमानवीय प्रताड़नाओं और शोषण का केन्द्र बिन्दु रहा तथा जिसको अस्पृश्य समझा जाने लगा ।

1.2 वर्णाश्रम व्यवस्था और दलित :

भारत में वर्णाश्रम व्यवस्था बहुत प्राचीन है । समाज में व्यवस्था कायम रखने के लिए वर्णाश्रम धर्म का सूत्रपात किया गया था । वर्णाश्रम व्यवस्था जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के लिए कुछ कार्यों का निरूपण करती है । जीवन को चार भागों में बाँटकर प्रत्येक भाग के लिए निश्चित कर्म और नियम निर्धारित किये जाते हैं । वस्तुत: भारतीय समाज में वर्णों और जातियों की अवधारणा वर्ग की अवधारणा की अपेक्षा कहीं जटिल और संश्लिष्ट है। आरंभ में वर्ण व्यवस्था श्रम विभाजन का परिणाम थी । कालान्तर में जाति व्यवस्था का उद्भव हुआ और सम्पूर्ण भारतीय समाज इसकी गिरफ्त में जकड़ता गया । इस जाति व्यवस्था ने भारत के सामाजिक ढांचे को अत्यधिक जटिल और संश्लिष्ट बना दिया । अकारण नहीं कि लुई दूमो जैसे गैर मार्क्सवादी विद्वान ही नहीं, बल्कि गेदेलियर जैसे मार्क्सवादी विचारक भी जाति के बुनियाद के रूप में स्वीकार करते है ।

ऋग्वेद के आरम्भिक मण्डलों में तीन वर्णों का उल्लेख है । ब्राह्मण, राजन्य और विश अर्थात वैश्य । ऋग्वेद के आखिरी हिस्से अर्थात "पुरूष सूक्त" के श्लोक में चार वर्णों में समाज के विभाजन की चर्चा है । यह चौथा वर्ण शुद्र

है, जिसको उत्पत्ति पैर से मानी गयी है । किन्तु कुछ विद्वानों का कहना है कि "पुरुष सूक्त" प्रक्षिप्त अंश है ।

महामहोपध्याय काणे का मत है कि "आर्यों ने जिन दस्युओं तथा दासों को जीतकर अपने समाज में सम्मिलित कर लिया वे ही शूद्र कहलाए ।"[1] किन्तु डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि "वर्ण-व्यवस्था समाज में श्रम विभाजन का परिणाम है । इसीलिए उसकी रचना के लिए अनार्यों की विजय की कल्पना आवश्यक नहीं है । जिस समाज के सदस्य स्वयं को आर्य कहते थे, उसमें द्विज आर्य थे शूद्र भी आर्य थे ।"[2]

वस्तुत: वर्ण-व्यवस्था का घनिष्ट सम्बन्ध है - पेशों के अलगाव से व श्रम विभाजन से । इस श्रम विभाजन से गण-गोत्र वाला समाज टूटता है व वर्ण-व्यवस्था का जन्म होता है । यह भेद अपने युग की अनिवार्यता के रूप में ठोस, भौतिक स्थितियों के बीच पैदा हुआ था । सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों से इसका सम्बन्ध है ।

प्रो० रामशरण शर्मा इसे वितरण की प्रणाली मानते हैं । वे लिखते हैं-- "वर्णों का उदय प्राचीन काल में समाज को चलाने के उद्देश्य से हुआ था । वर्ण-व्यवस्था वस्तुत: उत्पादन और वितरण की प्रणाली थी । जिसमें उत्पादन के फलों का बंटवारा समान रूप से नहीं होता था ।"[3]

---

1. संत काव्य के विकास में वर्ण, जाति और वर्ग की भूमिका : पृ०16
2. डा० रामविलास शर्मा, मार्क्स और पिछड़े हुए समाज : पृ०205
3. संत काव्य के विकास में वर्ण, जाति और वर्ग की भूमिका : पृ० 47

वर्णव्यवस्था में ब्राह्मणों को शीर्षस्थ माना गया । ब्राह्मणों को यज्ञ कराना, धार्मिक अनुष्ठान आदि कार्य बताये गये । उसे पृथ्वी पर का देवता घोषित किया गया । उन्हें कई विशेषाधिकार प्राप्त थे । वे कर व दण्डों से मुक्त थे । शीर्षस्थ होने के कारण उन्हें तीनों वर्णों से सेवा प्राप्त करने का अधिकार भी था ।

दूसरा स्थान क्षत्रियों का था जिसमें वे युद्ध व राजनीति में अधिकार के साथ भाग लेते थे, यह भूमि के स्वामी होते थे । उन्होंने अपने ज्ञान के आधार पर अपने-आपको ब्राह्मणों के पद तक ऊँचा उठा लिया था । उनका सबसे बड़ा कर्तव्य यह था कि वर्णाश्रम धर्म चलता रहे । अत: वे ब्राह्मणों के बनाये कानून को सख्ती से लागू करते थे । इस प्रकार क्षत्रिय को भी काफी विशेषाधिकार प्राप्त थे । भले ही ब्राह्मणों से वे एक सीढ़ी नीचे थे, किन्तु उन्हें समाज में काफी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था । इस प्रकार ये दोनों वर्ण उच्च वर्ग के थे ।

चतुर्वर्ण में तीसरा स्थान विश् अर्थात् वैश्य का आता है । यह सामान्य लोगों का समूह था जो उत्पादन में भाग लेते थे । वैश्य वाणिज्य, व्यापार और कृषिकर्म करने वाले थे । इस समाज में वैश्यों की संख्या ब्र सबसे अधिक थी । कृषि, पशुपालन के अतिरिक्त वस्त्र, बर्तन, आभूषण, रथ, अस्त्र-शस्त्र आदि बनाने का व्यवसाय वैश्यों के क्षेत्राधिकार में ही था । वैश्य, ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही जातियों से भिन्न थे, क्योंकि उनमें पुरोहित और कुलीन राजवंश के रक्त का अभाव था एवं वे स्वतन्त्र होने के कारण शूद्रों से उच्च समझे जाते थे । ब्राह्मण और क्षत्रियों के अधिकारों तथा सुविधाओं का उपयोग वैश्यों के लिए निषद्ध था । वैश्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा शूद्र की मध्यवर्ती कड़ी के रूप में था । फिर भी शूद्रों से इनकी स्थिति श्रेष्ठ थी ।

समाज में अत्यन्त निम्नतम श्रेणी में शूद्रों का स्थान आता है ।

शूद्र वर्ण में समाज के वे व्यक्ति आते थे, जो विजित वर्ग के दास थे । जिनको ऋग्वेद में "दस्यु" भी कहा गया है इसका कर्म प्रथम तीन वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य) की सेवा करना था । शूद्र वर्ण को "बृहदारण्यक" उपनिषद में "पूषण" कहा गया । क्योंकि उसका धर्म सारे समाज का पोषण करना था । शूद्र की स्थिति नगण्य एवं उसका जीवन निरर्थक था । उस समय शूद्रों का कर्तव्य था कि वे दास्य- भाव से द्विज वर्ग की सेवा शुश्रूषा करते रहे । सवर्ण-द्विज उच्च-वर्ग जातिय आधार पर आम लोगों का दमन - उत्पीड़न करनाथा निम्न वर्ण के लोग विभिन्न असमानताओं अन्याय और उत्पीड़न के शिकार थे । प्रभुत्व-सम्पन्न वर्ग वस्तुत: परिश्रम करने से बचता था । बिना परिश्रम किए ही वह उपलब्ध सभी सुख-सुविधाओं का उपभोग करने का अभ्यस्त था ।

मध्ययुगीन सामन्तवादी समाज में वर्ण-व्यवस्था के पूर्ण रूप से, जाति-व्यवस्था में परिणत हो जाने पर पीड़ित-दलित निम्न शूद्र वर्ग का सामाजिक जीवन उत्तरोत्तर निम्नतम होता गया । इस उत्पीड़ित दलित वर्ग की स्थिति अधिक दयनीय हो गई थी मनुष्य की श्रेष्ठता जातिगत और पूर्वनिर्धारित विधि के अनुसार निर्धारित होती थी । वस्तुत: "जाति और वंशानुगत श्रेष्ठता की कटु आलोचना और प्रखर विरोध का सर्वप्रथम सूत्रपात महात्मा बुद्ध ने किया और श्रम द्वारा ही व्यक्ति की श्रेष्ठता का मानदण्ड निर्धारित किया ।"[1] वस्तुत: सामाजिक दृष्टि से शूद्रों की स्थिति अत्यधिक दीनतापूर्ण होती जा रही थी । वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था में परिणत हो चुकी थी । जन्म से ही मनुष्य की जाति सुनिश्चित थी और मनुष्य का अस्तित्व उसके जन्म पर निर्भर था न कि उसकी योग्यता एवं सम्पत्ति पर, और यह व्यवस्था पदानुक्रमित श्रेणी श्रृंखला आबद्ध थी । ब्राह्मण जाति के लोग धार्मिक और

---

1. दलितों के रूपान्तरण की प्रक्रिया : पृ. 102

सामाजिक क्रिया-कलापों में पुरोहित का कार्य कर सकते थे । निम्नतम धरातल पर शूद्रों, अछूतों-दलितों को जगह नियत थी, जिन्हें धर्म द्वारा निम्नतम दल घोषित किया गया था । इन्हें अपमान व अवपीड़क सत्ता को समर्पित कर हिन्दू समाज के अन्य जातियों को सेवा करने और हलखोर, चमारों आदि के निम्न कार्य करने के लिए बाध्य कर दिया था के॰ दामोदरन का वक्तव्य इस सन्दर्भ में उचित है कि "जाति-प्रथा वास्तव में आदिम सामाजिक श्रम-विभाजन का एक विकास रहित रूप थी।"[1]

मध्ययुगीन सामन्तवादी समाज में वर्ण-व्यवस्था का, पूर्ण रूप से जाति-व्यवस्था में परिणित हो जाने पर पीड़ित दलित निम्न शूद्र वर्ग सामाजिक जीवन स्तर उत्तरोत्तर निम्नतम होता गया और उनकी स्थिति अधिक दयनीय हो गई । सामन्ती समाज-व्यवस्था के कारण वर्ण-व्यवस्था का रूपान्तरण जाति-व्यवस्था में हो गया । इस सन्दर्भ में के.दामोदरन ने लिखा है "दलित प्रथा का उद्भव मध्ययुगीन सामन्ती समाज के एक अभिन्न अंग के रूप में हुआ।"[2]

ब्राह्मण वर्ग की स्वार्थलोलुपता से वर्गों का विभाजन मध्ययुग के कुछ पूर्व दिखाईदेता है । इससे समाज का उत्पादक शिल्पी और श्रमिक वर्ग आगे चलकर नीच और अस्पृश्य समझा गया । मेहनती व उत्पादक वर्ग होते हुए भी इनकी दशा दासों से भी हीन हो गई और इनका निरंकुश शोषण हुआ । एस॰ए॰ डांगे ने लिखा है कि "व्यक्तिगत उत्पादन और नियन्त्रण के द्वारा सम्पत्ति की विषमता उत्पन्न होती है । इसका अर्थ यह होताहै कि साम्य सदा दो वर्गों को जन्म देता है । एक वर्ग धनी और निर्धन, एक शोषक और

1॰ भारतीय चिन्तनपरम्परा : पृ॰ 128
2॰ भारतीय चिन्तन परम्परा : पृ॰ 218

शोषित होता है, और जल्दी ही ये दो वर्ग स्वामी और दास वर्गों में परिणित हो जाते हैं।"[1]

शूद्र आरंभ से ही दूसरे वर्गों की सेवा करते रहे हैं। बदले में न तो उन्हें इनका पारिश्रमिक मिलता, बल्कि मिलती है, इनको गालियां, लताड़, उपेक्षा, घृणा। यदि थोड़ा बहुत पारिश्रमिक भी मिलती तो भी वह, न इनका पेट भर पाता और नही अन्य कोई कमी पूरी हो पाती। अर्थात् इनका पारिश्रमिक नहीं के बराबर होता है। सवर्णों की बची हुई जूठन इनके बच्चों को दी जाती है जो सवर्ण इसे दान समझ कर देते थे। इतना ही नहीं, सवर्णों ने इन्हें गांवों से दूर रहने के लिए विवश कर दिया था। फलत: अधिकतर शूद्र गांवों के बाहर ही दिखाई देते थे। ये लोग सवर्णों की सेवा करने, शौचालय साफ करने और उनकी गंदी व बदबूदार नालियों कीसफाई करने के लिए इनके घरों में दाखिल हो सकते थे। मगर स्वर्णों को स्पर्श करने का अधिकार दलित को नहीं था। इन्हें उन स्थानों पर रहना पड़ता जो मनुष्य मात्र के रहने के लिए लायक जगह नहीं थी।

प्राचीन भारत में वर्गों का अस्तित्व था, इस तथ्य में कोई इन्कार नहीं कर सकता है। वर्ग विभाजन शारीरिक एवं मानसिक श्रम का अलगाव है तब ब्राह्मण बौद्धिक अवपीड़न तथा क्षत्रिय शारीरिक अवपीड़न का काम करते थे। वर्गों में दो ही वर्ग मुख्यत: शोषक और शोषित थे। शोषक, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि उच्च वर्ग के और निम्न वर्ण में शूद्र और वैश्य आते थे जो इन के शोषण को चुपचाप सहन करते थे। इसी शोषण के कारण निम्न वर्ग की दशा अत्यन्त दयनीय हो गई थी। इनका जीवन सामान्य से भी हीन स्तर का था।

---

1. श्रीपाद अमृत डांगे - भारत आदिम साम्यवाद से दास व्यवस्था तक का इतिहास : पृ.177

ब्राह्मण वर्ग न केवल उनसे डर दिखा कर उन पर दबाव डालते थे, बल्कि धार्मिकता के नाम पर भगवान का डर दिखा कर इनसे इन्के पसीने की कमाई भी छीन लेते थे। इन्हें मन्दिरों में प्रवेश नहीं मिलता था तथा वे पवित्र धार्मिक ग्रन्थ नहीं पढ़ सकते थे। जो लोग इन का विरोध करते थे उन्हें दण्डित करने के लिए राज्य शक्तियां और सैनिक थे। अपने एक समान स्वार्थों की पूर्ति हेतु परस्पर अनुबंधित दोनों सत्ताएं मिलकर गरीब किसानों तथा दलितों का उत्पीड़न और शोषण करती थी।

सामंती व्यवस्था में शूद्र के धन व सम्पत्ति पर हर ब्राह्मण का अधिकार होता था। उसका कुछ भी नहीं होता था। वह मात्र एक मामूली प्राणी होता था। ऐसे में भेदभाव चरम सीमा पर होता और साथ ही स्वार्थ सिद्धि भी। मनुष्य का जन्म समान होने पर भी उसे अस्पृश्य समझा जाता था, शोषण करने वाले ब्राह्मण उन्हें इतना हीन, निकृष्ट और हल्का समझते थे कि इनका मूल्य एक पक्षी की तरह था जो बंद पिंजरे में रहते हैं। वे धर्म का हिस्सा नहीं बन सकते थे। जीवन के हर क्षेत्र में धर्म का प्रभुत्व विद्यमान था। सामाजिक व्यवस्था मोटे तौर पर सत्ता और शासन-व्यवस्था से नियंत्रित होती थी।

एस॰ घुरे ने अपनी "कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया" में लिखा है कि "चतुर्वर्णीय समाज व्यवस्था का जो प्रसंग पुरुषसूक्त में वर्णित है, उसमें न केवल जातियों की संरचना वरन् समाज व्यवस्था का धार्मिक औचित्य दर्शाया गया है।"[1] इससे स्पष्ट होता है कि उस समय धर्म के नाम से भी निम्न वर्ग के अस्पृश्य, शूद्रों व दलितों पर काफी अत्याचार होते थे। उन्हें न केवल मन्दिर में प्रवेश की मनाही थी बल्कि पूजा-पाठ आदि की भी मनाही थी।[1] इस

1॰ कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया : पृ॰29

प्रकार दलितों के शोषण के लिए राज्यसत्ता के साथ-साथ धर्मसत्ता कहीं अधिक जिम्मेदार थी । शोषक वर्ग ने, जो स्वयं धार्मिक कुप्रथाओं और बाह्याडम्बरों का झमेला उत्पन्न किया था उससे दलितों का निरंकुश शोषण किया और उन्हें मानवीय अधिकारों से वंचित कर नारकीय जीवन को भोगने के लिए बाध्य किया ।

यहाँ एक प्रश्न उठता है क्या शूद्र और अस्पृश्य एक ही है ? शूद्रों की तरह अस्पृश्य की उत्पत्ति के बारे में भी काफी मतभेद हैं । एम॰एन॰ श्रीनिवास के अनुसार "वेदों की वर्ण-व्यवस्था में केवल चार क्रम हैं और अछूतों का इस व्यवस्था में कोई स्थान नहीं है । किन्तु वैदिक साहित्य में अयोगव, चांडाल, निषाद, पोल्कस जैसे समूहों का उल्लेख मिलता है, जो वर्ण-व्यवस्था के बाहर है, तथा तिरस्कृत से प्रतीत होते हैं ।"[1]

अस्पृश्यता को पंचम वर्ण को संज्ञा दी जाती थी जो आज अछूत है । वही अस्पृश्य है, और यह धारणा परवर्ती काल की उपज है । अस्पृश्य जाति-व्यवस्था में सबसे निचले स्तर पर अवस्थित है । यह भारतीय समाज की सर्वाधिक, उपेक्षित पीड़ित जातियाँ हैं । इन्हें न केवल सामाजिक व्यवस्थाओं में सभी अधिकारों से वंचित रखा गया बल्कि भूमि में भी इनका हिस्सा न रहा । उन्हें गाँव से बाहर रहने पर विवश होना पड़ा । जो काम सबसे घृणित माने जाते थे वही उनको सौंपे गए थे ।

डा० रामविलास शर्मा लिखते हैं "आदिम जातियों का संस्कारहीन जीवन या जो वर्ण-व्यवस्था में शामिल हुई । ये लोग मुख्यतया: शिकारी बहेलिया के रूप में जीवन बिताते थे और उनकी तुलना में ब्राह्मण समाज के लोग

1॰ आधुनिक भारत में जातिवाद तथा अन्य निबन्ध : पृ॰ 68

धातु-कर्म और कृषि का ज्ञान रखते थे और नगर-जीवन का विकास कर रहे थे। चांडाल, निषाद, वेण, रथकार, पुक्कास आदि जातियों को घुम्मक्कड़ अकिंचन और अभावग्रस्त बताया गया है जिन्हें भरपेट अन्न और वस्त्र शायद ही मिल पाता था।"[1]

उक्त कथन से स्पष्ट होता है कि शूद्रों से भी बदतर जिन्दगी अस्पृश्यों की थी। वस्तुत: अस्पृश्यता ठोस आर्थिक स्थितियों की उपज है। आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े हुए लोग ही अछूत माने गये हैं। जिस पर उनकी सामाजिक स्थिति जुड़ी है। अत: अस्पृश्यता आर्थिक और सामाजिक असमानता पर आधारित है। बी॰टी॰ रणदिवे लिखते हैं कि "छुआछूत इस असमानता की व्यवस्था में सबसे नीचे की जातियों को हमेशा के गुलाम बनाये रखने और मनुष्य के साथ पशुओं का-सा व्यवहार करते रह सकने के विशेषाधिकारों को बनाये रखने की कोशिश है।"[2]

इससे स्पष्ट होता है कि उच्च वर्ग हमेशा से ही अपना वर्चस्व कायम रखना चाहता रहा है। उसे यह मान्य न था कि उसे कोई नीचा दिखाए। इसलिए ही उसने जातिभेद छुआछूत आदि की आड़ में निम्न वर्ग को अपना गुलाम बनाये रखने का ही प्रयास किया। दलितों के लिए शूद्र - अतिशूद्र चांडाल अस्पृश्य आदि शब्दों का प्रयोग किया। शूद्र अर्थात् दलितों को भारतीय समाज के उच्च वर्ग द्वारा अस्पृश्य अपवित्र समझा गया। स्पष्ट ही तब छूत-अछूत की भावना के कारण निम्न दलित वर्ग की दशा अत्यन्त दयनीय हो गई थी। मानव होते हुए भी मानव जैसे व्यवहार उनके साथ नहीं किए जाते थे।

1॰ सन्त काव्य के विकास में वर्ण-जाति और वर्ग की भूमिका : पृ॰ 33
2॰ कथ्यरूप, मई-जून -1982 : पृ॰ 49

गांधी जी ने लिखा है कि "मालाबार में कुछ जाति के लोगों को छाता लेने, जूता पहनने, गहने धारण करने तथा देश की समान भाषा तक प्रयोग करने की अनुमति नहीं थी । एक समय में महार जाति के लोगों को सड़क पर थूकने की अनुमति नहीं थी । अत: थूकने के लिए गले में मिट्टी का बर्तन लटकाये रहना पड़ता था । उनसे चाय वाला चाय व दुकानदार सौदा नहीं बेचता । वह मरता हो तो भी (सवर्ण) उसे छूना गंवारा नहीं समझते थे । कहीं-कहीं तो सवर्णों को देखकर इन्हें पेट के बल रेंगना पड़ता था तथा नाक जमीन पर रगड़नी पड़ती थी ।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि दलितों के साथ पशुवत् व्यवहार किया जाता था । इन्सान होते हुए भी सवर्ण इन्हें इन्सानों से भी गया-गुजरा मानते थे । आज स्थिति यह है कि शूद्रों के नाम से अलग जाति न होने के बावजूद शूद्रों की सामाजिक स्थिति और जाति-प्रथा तथा अछूतों, हरिजनों और दलितों की सामाजिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं है । ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि उच्च वर्ग का जो नाता प्राचीनकाल में था वह जाति-व्यवस्था में आकर और कठोर हो गया है । शूद्र कहा जाने वाला वर्ग विभिन्न उपजातियों के नाम से पुकारे जाने लगे । वस्तुत: यही शूद्र दलित वर्ग है जो मध्ययुगीन सामन्ती समाज में अमानवीय प्रताड़नाओं और शोषण का केन्द्रबिन्दु रहा तथा जिसको तब अस्पृश्य समझा जाने लगा था । आधुनिक युग तक में समाज द्वारा तिरस्कृत और पीड़ित यह दलित वर्ग अनेक अत्याचारों व शोषण का शिकार रहा है ।

---

1. गांधी भाषण - नवम्बर 1997, मार्च 1946

1.3 दलित मुक्ति आन्दोलन व विचारधारा :

विलियन पो. स्कोट ने विचारधारा को परिभाषित करते हुए इसे A system of interdepent ideas (beliefs, traditions, principles and Myths) held by a Social group or society which reflects, rationalizes and defends its particular Social, Moral, religious political and economic institutional interests and commitments' के रूप में सूत्रबद्ध किया है। उन्होंने आगे लिखा है कि -- Ideologies serve as long well as its atitudes, goals and general life situations. The ideology of any populations involves and interpretation (and usually a repudiation) of alternative idealogical frames of reference. The elements of an ideology tend to be accepted as truth or dogma rather than as tentatives philosophical or theoretical formulations despite the fact that ideologies are modetical in accordance with sociocultural changes.

The term ideology was introduced at the beginning of the nineteenth century by Destutt de Tracy a French Philosopher to refer to the study of ideas. The term however soon look on essentially its current meaning of a set of ideas justifying particular interests. The conceptwas given great prominence in the writing of Konl Marx, who defined it as a system of

ostensibly logical ideas that in reality me a justification for the vested interests of a particular social class Karl Mannheim used the term to refer to ideas that are distorted by the historical and social setting of individuals and groups".[1]

उपर्युक्त मंतव्य के आलोक में यदि भारत में दलित मुक्ति आन्दोलन को विचारधारात्मक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करें तो स्पष्टहोगा । कि उसके मूल में मुख्यत: अम्बेडकरवादी विचारधारा सक्रिय रही है । ऐसे इस सन्दर्भ में गांधीवादी विचारधारा, मार्क्सवादी विचारधारा एवं लोहियावादी समाजवादी विचारधारा को भी महत्वपूर्ण भूमिका को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता । जाहिर है कि डा० अम्बेडकर स्वयं दलित थे । वे उन शोषणों से भलि-भाँति परिचित थे जो दलितों पर होते थे । उन्होंने आजीवन दलितों को वार्नुवर्ण्य को अंधकारमय चक्को में पिसने तथा दरिद्रता को आग से मुक्ति दिलाने के लिए ही संघर्ष किया । अपने विचारों व प्रयत्नों से उन्होंने दलितों को सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक , आर्थिक न्याय प्राप्ति और अधिकार दिलाने के लिए एक क्रान्तिकारी स्थिति उत्पन्न करने का भरपूर प्रयास किया ।

डा० अम्बेडकर ज्योतिबाफुले को अपना प्रेरक मानते थे । महात्मा फुले महाराष्ट्र के अब्राह्मण आन्दोलन के निर्माता और प्रारंभिक काल के नेता थे । ग्रामीण जीवन के मूल में जाने वाला प्रथम आन्दोलन "सत्यशोधन" था जिसको स्थापना महात्मा फुले ने की थी । बुद्धि प्रमाण्य और समानता पर आधारित इस आन्दोलन ने शूद्र और अछूत समाज में नई चेतना और प्रेरणा जाग्रत की । उन्होंने इस आन्दोलन के तहत दो कार्य किए । एक यह कि उन्होंने अब्राह्मण

---

1. Dictionary of Sociology P- 195-196,

राजनीतिक आन्दोलन और दल के लिए अनुकूल वैचारिक आधार
~~राजनीतिक~~ प्रदान करने का कार्य किया, तो दूसरी ओर उभरते हुए दलित-अछूत समाज के नेतृत्व को और दलित मुक्ति आन्दोलन को भी वैचारिक और सैद्धान्तिक आधार प्रदान करने का कार्य किया ।

'ब्राह्मणांचे कसबे', 'गुलामगिरी', 'सार्वजनिक सत्य', धर्म आदि उनकी लिखित पुस्तकें, भारत की सामाजिक गुलामी के इतिहास की खोज व सोच के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण है । जोतिबा फुले बुद्धि प्रामाण्यवाद और समतातत्व के आधार पर हिन्दू संस्कृति की शल्य चिकित्सा करते थे । सत्यशोधक समाज ने ब्राह्मणी धर्मकल्पनाओं जन्म पर आधारित श्रेष्ठत्व, क्रमिक सामाजिक समानता और जिनके कारण शूद्रों को पशुवत जीवन प्राप्त हुआ, उन सबके विरोध में यह ~~में~~ आन्दोलन किया था, उनका विद्रोह ब्राह्मणों, जातिभेद तथा ब्राह्मण पुरोहित-शाही के विरुद्ध था । एक तरह से इनका यह आन्दोलन मानवी समानता का आन्दोलन था । उन्होंने ब्राह्मणशाही पर करारे व्यंग किए । इसलिए ब्राह्मण-वादियों ने इनकी कठोर आलोचना की थी । उन्होंने न केवल अपनी लेखनी द्वारा पददलितों, शूद्रों की मुक्ति के लिए ~~द्वार~~ प्रयास किया, बल्कि अपनी ओजस्वी वाणी का भी उपयोग किया । परन्तु इस आन्दोलन के तत्कालीन नेता उनकी जाति के उदयोन्मुख ग्रामीण पूँजीवादी शक्ति के राजनीतिक प्रतिनिधि थे इसलिए इस आन्दोलन को मूल -प्रवर्तक आन्दोलन में परिवर्तित नहीं कर सके ।

इस आन्दोलन को आगे बढ़ाने व व्यापकता देने का कार्य अम्बेडकर ने किया । इन्होंने महात्मा फुले की ~~क~~ संकल्पनाओं व सामाजिक क्रांति की आन्दोलनों के माध्यम से आगे बढ़ाया, और उसे नया सन्दर्भ देने का प्रयास किया । दूसरी ओर उन्होंने इन ~~क्रा~~ समानतावादी संकल्पनाओं को संवैधानिकता भी प्रदान की । अम्बेडकर द्वारा लिखित "हूवेअर शूद्राज" (शूद्र कौन थे ?) किताब महात्मा फुले को समर्पित है, फुले के बारे में अपनी निष्ठा व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा

है कि "आधुनिक भारत के सर्वश्रेष्ठ शूद्र को जिसने हिन्दू धर्म के पिछड़े वर्ग को ऊंचे वर्ग को गुलामी से अवगत कराया और विदेशी सत्ता से स्वतन्त्रता को अपेक्षा सामाजिक समानता ज्यादा महत्वपूर्ण चीज है, बताने वाले महामन्त्र का उपदेश दिया ।"[1] इससे हम देखते हैं अम्बेडकर भी महात्माफुले के पदचिन्ह को अपनाते रहे और उनके द्वारा शुरू किये गये आन्दोलन को आगे बढ़ाते रहे । साथ ही उन्होंने फुले के बाद जात-पात और अछूतपन का विनाश करने के लिए नेतृत्व भी संभाला ।

डा० अम्बेडकर के कार्य में न केवल प्रगतिशीलता बल्कि उनके विचारों में भी क्रांतिकारी स्फुटन था । उनका कथन था कि "मनुष्य को इस संसार में जन्म के आधार पर या पूर्व कर्मों के अनुसार सब कुछ प्राप्त होता है । हमें कर्म सिद्धान्त को त्याग देना चाहिए । माता-पिता अपने बच्चों का भविष्य उज्जवल बना सकते है यदि हम इस सिद्धान्त पर चलेंगे तो शीघ्र ही शुभ दिन देख सकते हैं ।"[2]

उनका मानना है था कि इस जाति-पाति व अछूत के मुक्ति का भार यदि युवक वर्ग संभाल पाता है तो निश्चय ही दलितों के सुनहले दिन अवश्य आयेंगे । न केवल इसका उन्मूलन हो जायेगा । बल्कि उन्हें भी सम्मानीय स्थान अवश्य मिलेगा । उनका मंतव्य यह था कि यदि माता-पिता बच्चे को सही शिक्षा देते हैं तो आज का युवक वर्ग इस भार को संभाल पाने में सक्रिय होगा ।

---

1. बौद्ध धर्म के विकास में डा० बी०आर० अम्बेडकर का योगदान : पृ० 22
2. डा० अम्बेडकर जीवन और मिशन : पृ० 21

डा० अम्बेडकर ने सदियों से बेजान पड़े रहे अछूत समाज में अस्तित्व को चेतना जगायी । उनमें स्थित्यंतर और मन्वंतर के लिए उनमें उनके अस्तित्व की चेतना पैदा की । उनका इतिहास व वर्तमान ही नहीं बल्कि उनके भविष्य के बारे में भी जागृति पैदा की । उनके सामाजिक जीवन का प्रारंभ मूक नायक पद के माध्यम से हुआ । जिसमें उन्होंने भारतीय समाज के अछूतों को, जो सदियों से हिन्दू (ब्राह्मणों) समाज में दासवत व पशुवत जिन्दगी बसर कर रहा था, उस व्यवस्था का असली रूप स्पष्ट किया । उन्होंने लिखा है कि "हिन्दू समाज एक मीनार की तरह है । उसमें एक जाति एक मंजिला है । किन्तु उसमें जीना नहीं है । इसलिए एक मंजिले से दूसरे मंजिले पर जाने के लिए कोई सीढ़ी नहीं है । एक मंजिल पर जिसे पैदा होना है उसी में जीना व मरना है । नीचे वाले मंजिल पर वह भले ही लायक हो, उसे ऊपर चढ़ना मना है । और ऊपर का आदमी कितना भी नालायक हो उसे नीचे के मंजिल पर फेंक देने की किसी की भी हिम्मत नहीं ।"[1]

यह हिन्दुओं की समाज व्यवस्था में जो विषमता की बुनियाद है, सामाजिक विषमता के आधार पर अछूत समाज को गुलाम, पशुवत बनाया गया था ।

डा० अम्बेडकर को सामाजिक न्याय के लिए बड़ी कठिनाईयों का सामना करना पड़ा । क्योंकि दलितों को कुंओं, नलों या तालाबों का पानी पीने की अनुमति नहीं थी । शिक्षा व मन्दिरों के दरवाजे इनके लिए बन्द थे । वे समाज में अलग थे व इनका सामाजिक जीवन में इनका कोई दखल नहीं था इसलिए वे ब्राह्मणवाद के विरोधी थे । वे हिन्दू, मद्रासी या सिन्धी आदि के

---

1. बौद्ध धर्म के विकास : डा० बी०आर० अम्बेडकर का योगदान : पृ० 94

मतभेद से उनका आशय "स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व-भ्रातृत्वभाव की भावना के निषेध से है । इस अर्थ में ब्राह्मणवाद तक ही सीमित नहीं है । यद्यपि यही लोग इनके जन्मदाता रहे हैं । ब्राह्मणवाद के प्रभाव सामाजिक अधिकारों जैसे अन्तर्जातीय खान-पान और विवाह तक सीमित नहीं, बल्कि उन्होंने लोगों को नागरिक अधिकारों से भी वंचित रखा है ।"[1]

डा० अम्बेडकर ने दलितों को सामाजिक न्याय दिलाने हेतु "बहिष्कृत हितकारणी सभा" की स्थापना की । यह पहली संस्था थी जिसके तहत अम्बेडकर ने दलितों को सार्वजनिक तालाबों से पानी पिलाया और मन्दिरों में भी प्रवेश कराया । इस संस्था का घोष वाक्य था -- "पढ़ो, संगठित बनो और संघर्ष करो" । उन्होंने इसमें स्पष्ट मत दिया था कि "बहिष्कृतों की उन्नति के लिए सबसे पहले उनमें जागृति लाना आवश्यक है । कोई भी समाज हो, उनकी उन्नति के लिए प्रारंभ में उसमें चेतना पैदा होनी चाहिए ।"[2]

मनुष्य में जब तक यह बोध नहीं होता कि वह समाज में होते अन्याय को रोके, उनका विरोध करे तब तक स्वतन्त्रता मिलना या उन्हें सामाजिक न्याय मिलना संभव नहीं है । डा० अम्बेडकर ने दलितों को सामाजिक हैसियत का बोध दिलाने हेतु दो सत्याग्रह किये । पहला महाड़ का जल सत्याग्रह , दूसरा नासिक का धर्म सत्याग्रह । "सत्याग्रह" गांधी जी का अस्त्र था परन्तु अम्बेडकर ने इसका उपयोग हिन्दू सत्ता के खिलाफ किया । क्योंकिवह अछूतों को समाज में सम्मानीय स्थान दिलाना चाहते थे । इसलिए उन्होंने गांधी का सत्याग्रह-अस्त्र जो उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करने हेतु किया, उसी का उपयोग

---

1. दलित चेतना : साहित्य : पृ. 76.
2. बौद्ध धर्म के विकास में डा० बी.आर.अम्बेडकर का योगदान : पृ. 119

अम्बेडकर ने दलितों का माननीय स्थान दिलाने हेतु किया । इस सत्याग्रह के तहत हजारों दलितों ने चवदार तालाब का पानी पिया । इन्होंने दलित मुक्ति के नये इतिहास की आधारशिला रखी । इस आन्दोलन के तहत नियोग्यताओं के विरुद्ध लड़ाई-लड़ने का साहस पैदा किया । साथ ही इन्होंने "मनुस्मृति" को जलाकर शास्त्रों की पवित्रता में लोगों के विश्वास को तोड़ा था क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि अंधविश्वास के कारण जो छुआछूत की बीमारी थी, और फैले इस समय उन्होंने कहा कि "दलित-अछूत समाज को अपमानित करने वालो, उनकी उन्नति में दीवार बनाने वालो, उनका आत्मसम्मान, अस्तित्व, उनकी अस्मिता को छीन कर , उनको सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक गुलामी की जंजीरें पहनने वाली मनुष्य के नैसर्गिक अधिकारों का हनन करने वाला कलंक स्वीकारने योग्य नहीं है । इस विषमतावादी, मानवी मूल्यों का विनाश चाहने वाली इस मनुस्मृति का ह दहन किया जा रहा है ।"[1]

उन्होंने दलितों को मन्दिर में प्रवेश दिलाने हेतु नासिक के कालाराम मन्दिर में धर्म सत्याग्रह आरम्भ किया । इस प्रकार यह सत्याग्रह एक महान् सामाजिक क्रान्ति थी जिसने भारत को समता, स्वतन्त्रता और बंधुत्व के शब्द दिये थे जिससे समाज में व्यापक चेतना जागी । हाँलाकि, इन्हें बहुत अपमान व लाठियां सहन करनोपड़ी, किन्तु वह विचलित नहीं हुए, बल्कि दलितोत्थान के अपने उद्देश्य की ओर दृढ़ता से बढ़ते रहे ।

डा० अम्बेडकर ने समाज राष्ट्र और नेताओं को इस बात का अहसास कराने का प्रयास किया कि "दलितपन भारत के लिए कलंक है । जब तक दलितों

---

1. बहिष्कृत भारतातील अग्रलेख (प्रथमवृत्तो) प्रस्तावना : पृ.20

का शोषण होता रहेगा, जब तक उनका अपमान किया जाता रहेगा, उनसे छुआछूत बरती जायेगी, जब तक उनको मानवीय हक नहीं दिए जायेंगे व उनके साथ मनुष्यवत् समानता का व्यवहार नहीं किया जाएगा और उनको आत्मसम्मान और आत्मनिर्भरता का जीवन प्राप्त नहीं होगा, तब तक वे समाज की मुख्यधारा से नहीं जुड़ सकते । और जब तक दलित वर्ग समाज की मुख्यधारा से नहीं जुड़ता तब तक देश और समाज की प्रगति असम्भव व क्षीण हो रहेगी ।"[1]

वस्तुत: डा० अम्बेडकर दलितों को सर्वप्रथम समाज में स्थान दिलाना चाहते थे स्पष्ट हो अछूत समस्या मात्र सामाजिक समस्या नहीं थी, बल्कि राजनीतिक और आर्थिक भी थी । डा० अम्बेडकर ने दलितों को केवल सामाजिक न्याय ही नहीं दिलाया बल्कि राजनीतिक क्षेत्र में भी सक्रिय किया । उन्होंने दलित समाज को राजनीतिक दृष्टि से संगठित करने व उनमें अपने अधिकारों के लिए लड़ने का साहस पैदा किया । सन् 1928 में सायमन कमीशन भारत में आया था । कांग्रेस ने इसका बहिष्कार किया था लेकिन "बहिष्कृत हितकारणी सभा" की ओर से डा० अम्बेडकर ने सायमन कमीशन को दलितों के राजनीतिक अधिकारों से सम्बन्धित मांगों का पत्र दिया । इसमें महत्वपूर्ण मांग यह थी कि "सार्वत्रिक चुनाव के द्वारा प्रतिनिधि चुने जाए । इस सार्वत्रिक मताधिकार के मांग के पीछे उनका एक ही उद्देश्य था कि दलित समाज, जो सदियों से राजनीतिक जीवन से बहिष्कृत था, उसको राजनीतिक शिक्षा होनी चाहिए ।"[2]

अम्बेडकर द्वारा अछूतों को राजनीतिक अधिकार दिलाने के पीछे कारण यह था कि वे इनकी स्थिति मजबूत करना चाहते थे । क्योंकि स्पृश्य लोग राजनीतिक आन्दोलन अपने राजकीय अधिकारों के लिए कर रहे थे । किन्तु, अछूतों के धार्मिक और सामाजिक अधिकारों के प्रति वे पूरी तरह से सनातनी थे ।

---

1. अम्बेडकर आन्दोलन दशा और दिशा : पृ. 22
2. बौद्ध धर्म के विकास में : डा० बी.आर. अम्बेडकर का योगदान : पृ. 122

इस के परिणाम स्वरूप दलित वर्गों में राजनीतिक चेतना पैदा हुई । इसी समय भारतीय राजनीति में दलित चेतना का उदय हुआ । दलित वर्ग का पहला कांग्रेसी अधिवेशन नागपुर में हुआ । इस अधिवेशन के तहत तेरह प्रस्तावित पारित किए गये थे । इसमें स्पष्ट रूप से केन्द्र और राज्यों की विधापिकाओं में दलितों के लिए समुचित प्रतिनिधित्व तथा सरकारी सेवाओं में दलितों की जनसंख्या के अनुपात से आरक्षण दिये जाने की मांग थी । जिसके कारण जो दलित जन हिन्दू समाज के अंतर्गत उसी के अंग माने जाते थे अब उनको पृथक राजनीतिक महत्ता को स्वीकार किया जाने लगा ।

डा० अम्बेडकर ने दलित वर्गों के सांस्कृतिक, धार्मिक और आर्थिक अधिकारों के लिए मौलिक अधिकारों का घोषणा पत्र तैयार किया और उसे संविधान में शामिल किया । गोलमेज परिषद के कारण दलितों की सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं को और बड़ी सहानुभूति के साथ देखा जा रहा था डा० अम्बेडकर समाज की सच्चाईयों से दूर भागने की बजाय उनमें संघर्षरत रहे । वे भली-भांति जानते थे कि अछूतों की गुलामी का कारण सामाजिक, धार्मिक ही नहीं बल्कि राजनीतिक और आर्थिक भी है ।

अम्बेडकर ने दलितों की समस्या को, गुलामी को, कभी अध्यात्मिक रंग नहीं दिया । उनके विचार व आन्दोलन आध्यात्मिक सिद्धान्तों से ओत-प्रोत थे । उन्होंने सवर्ण कामगार द्वारा दलितों को अछूत मानने की बात का विरोध किया । उन्होंने सरकार को इनकी आर्थिक स्थिति से भी अवगत कराया । उन्होंने कहा कि "अछूत समाज की दरिद्रता उसके रास्ते में बहुत बड़ी दिवार है । बम्बई इलाके की अधिकांश अछूत जनता परावलंबी है । कुछ लोग स्पृश्य सनातनियों की जमीन किराए पर लेते हैं । कुछ लोग मजदूरों के रूप में इन लोगों की जमीन पर काम करके अपना पेट पालते हैं और शेष लोगों

का जोवन निर्वाह गाँव को नौकरो के लिए गाँववासो सवर्णों को ओर से प्राप्त भोजन और अनाज पर होता है । जब कभो अछूतों ने सवर्णों को अपना स्वाभिमान दिखाया तो वे सनातनो स्पृश्य गाँववासो उन अछूतों से जमोन वापस ले लेते थे ।"।

उस समय दलितों के लिए कोई विशेष काम नहीं दिए जाते थे जिससे वे अपना जोवन यापन कर सके । उन्हें स्पृश्यों की जमोन में काम करना पड़ता था । समाज दो वर्गों - जमींदार वर्ग और मजदूर वर्ग में विभक्त था । अम्बेडकर ने मार्क्स समतावादो और समाजवाद का समोकरण प्रस्तुत किया । जो समाज के बोच उच्च और समान मूल्यों को स्थापना पर बल देता है । इस प्रकार उन्होंने दलित समाज को आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिए विशेष राजनोतिक और आर्थिक अधिकारों तथा सरकारो नौकरियों में आरक्षण को मांग को थो । साथ हो उन्होंने दलित कामगारों और किसान मजदूरों में आर्थिक सवाल पर संघर्ष किया । चूँकि दलितों का सवाल अनेक समस्याओं से घिरा था इसलिए अम्बेडकर समता, स्वतन्त्रता एवं बंधुता से परिपूर्ण आदर्श समाज को स्थापना करना चाहते थे । इस सन्दर्भ में उन्होंने कहा था कि "मैं इस वर्ग का हूँ जो जनतन्त्र का पक्षपातो है । तथा जो मूकाधिकार को उसको सभो शक्लों में समाप्त हुआ देखना चाहता है ।"[2]

यदि देखा जाए तो अम्बेडकर ने जाति विहोन और वर्ग विहोन समाज को स्थापना के लिए मानव जोवन को सार्वभौमिकता का आदर्श सामने रखा ।

---

1. बहिष्कृत भारतातोलअग्रलेख : पृ. 3।
2. अम्बेडकर आन्दोलन दशा और दिशा : पृ. ।।

जहाँ अम्बेडकर अपने अथक प्रयत्नों से क्रांतिकारी विचारों से राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक व धार्मिक क्षेत्रों में दलितों को अधिकार दिलाने का कार्य कर रहे थे तो दूसरी ओर संयम, विनयशीलता और साधु गुणों को लेकर गांधी जी भारतीय क्षितिज पर उभरे । वे सत्य और अहिंसा के पुजारी थे । उनका विश्वास था कि कथनी और करनी में कोई अन्तर नहीं रहना चाहिए । उन्होंने सत्याग्रह का रास्ता श्रेयस्कर समझा । अछूतों को उन्होंने "हरिजन" नाम दिया । राष्ट्र की एकता को सुदृढ़ करने के लिए उन्होंने "छुआछूत" के उन्मूलन का रास्ता अपनाया ।

गांधी जी ने कहा है कि "कहा जाता है कि ईश्वर सत्य है । सत्य ही ईश्वर है । हिंसा मानव का धर्म है बिलकुल वैसे ही जैसे की हिंसा पशुओं का । अच्छे साध्य के लिए भी बुरे साधनों का प्रयोग उचित नहीं है । वास्तव में हमारे शत्रु हमारी भय लोलुपता और अहंकार है । हम अपने को बदल कर ही दूसरों को बदल सकते हैं । परिवार सत्य, स्नेह, दया के नियम समूहों, देशों और राष्ट्र पर लागू होते है ।"[1]

गांधीजी यदि अहिंसा के पुजारी थे । तो सवाल उठता है कि क्यों कर उन्होंने अछूतों पर होते अत्याचारों को नहीं देखा । क्यों उन्होंने ब्रिटिश शासन की समाप्ति की तरह दलित मुक्ति का आन्दोलन नहीं चलाया । "वैष्णव जन तो तेंने कहिए, जो पीर परायो जाणे रे" की तरह अछूतों के परायेपन को क्यों कर नहीं देखा ? शायद इसलिए कि वे हिन्दू धर्म को सनातन रूप में स्वीकार करते थे । और अछूतों को और दयावादी दृष्टिकोण रखते थे । "यंग इण्डिया" में 1920-21 में भले ही उन्होंने कहाथा कि स्वराज्य मिलने के पहले ही अछूतपन

---

1. भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या : पृ. 36

नष्ट होना चाहिए किन्तु, गोलमेज में उनका दलितों के हितों के विरुद्ध व्यवहार था ।

अस्पृश्यता उनके लिए तब परायो पोर होकर भी परायो नहीं रही जब दक्षिण आफ्रिका में मारित्जबर्ग स्टेशन पर हुई घटना से उनको अस्पृश्यता का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ । इस कारण वे छुआछूत, जाति प्रथा के विरोधी होते गए । यहाँ तक कि वे सवर्ण व अस्पृश्य के विवाह को आशीर्वाद देने की बात कहने लगे ।

उन्होंने "हरिजन" व "यंग-इण्डिया" में अपने विचार इस तरह व्यक्त किए : "छुआछूत एक बहुत हानिकारक और भयंकर दानव है । समाज उनका बहिष्कार करता है । और आर्थिक दृष्टि से उनकी दशा और भी खराब है । और धार्मिक दृष्टि से उन्हें उन स्थानों में प्रवेश की अनुमति नहीं जिन्हें ईश्वर के निवास की संज्ञा दी गई है । यदि हम छुआछूत को नहीं मिटायेंगे तो स्वयं मिट जाएंगे । चार वर्ण आधारभूत, प्राकृतिक और आवश्यक हैं । परन्तु असंख्य जातियाँ तथा उपजातियां, अभिशाप मात्र हैं । वर्ण - व्यवस्था के कारण मानव को ऊर्जा का परिरक्षण होता है । यह (वर्ण-व्यवस्था) आत्मसंस्कृति की विभिन्न व्यवस्थाओं का वर्गीकरण है । सामाजिक स्थायित्व और प्रगति का सर्वोत्तम समायोजन इसी के माध्यम से होता है ।"[1]

गांधी जी वर्णाश्रम, धर्म-व्यवस्था के समर्थक थे। भारतीय राजनीतिक आन्दोलन के नेतृत्व के तहत जाति-व्यवस्था की अलगाववादी प्रवृत्ति का एहसास अधिकाधिक तीव्रता से उन्हें होने लगा । साथ ही कालान्तर में स्वतन्त्रता आन्दोलन का प्रभाव - क्षेत्र व्यापक होता गया । इस कारण उनके विचारों में उत्तरोत्तर

---

1. भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या : पृ. 38

परिवर्तन होते गए । फिर भी वे मानते थे कि जाति-व्यवस्था में समाज को संगठित करने की अद्भुत शक्ति है । रोटी-बेटी व्यवहार पर लगे निर्बंध मनो-निग्रह के लिए पोषक है । इसी कारण दलित नेताओं को गांधी जी द्वारा अस्पृश्यों के समान अधिकारों की मांग जायज प्रतीत नहीं होती है । पर जाति-व्यवस्था को नष्ट करने की बजाय सहयोग पर आधारित अर्थ-व्यवस्था के प्रति उनका अलगाव अन्त तक कायम रहा ।

असहयोग और अवज्ञा आन्दोलनों से समाज विभिन्न तबकों में जब चेतना जागने लगी तो गांधी जी उच्च वर्गीयों को एहसास दिलाया कि "अपने राजनीतिक अधिकार हेतु विदेशियों के खिलाफ लड़ने के लिए तैयार हुए लोग अब सामाजिक और आर्थिक अन्याय को कभी सहन नहीं करेंगे । राजनीतिक स्वतन्त्रता की आकांक्षा सामान्य जनता में पनप रही बल्कि सामाजिक अनुभूति का सहज अविष्कार है । इस प्रकार की सम्पूर्ण जागृति के बाद राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्र उससे प्रभावित हो जाएंगे, अतएव सभी क्षेत्रों के सुधार का आन्दोलनों का शुभारंभ एक साथ होना चाहिए ।"[1]

गांधी जी अहिंसा के पुजारी थे इसलिए उन्होंने शांतिपूर्वक तरीके से समाज में नारी, शूद्र और अतिशूद्रों पर जो पाबंदियां लगी थीं उन्हें हटाकर सामाजिक न्याय दिलाने की दृष्टि से उच्च वर्णीयों के हृदय परिवर्तन की पुरजोर कोशिश की ।

गांधी जी के विचारों में सबसे आवश्यक कार्य छुआछूत उन्मूलन था । वे हिन्दुओं की अन्तरात्मा को नव विचारों के अनुकूल बनाने हेतु जाति और वर्ण व्यवस्था के बारे में विस्तृत रूप से अपने विचार प्रस्तुत करते रहे । उन्होंने मेकडानेल्ड

---

1. गांधी : पृ. 20

के निर्णय (कम्युनल अवार्ड) के विरोध में अनशन प्रारम्भ किया जो एक ऐतिहासिक घटना थी । उन्होंने हिन्दुओं और अछूत दोनों के लिए किसी भी प्रकार का अलगाव हानिकारक माना । परिणामत: छुआछूत समाप्त नहीं हुआ परन्तु हिन्दुओं का मन उद्वेलित हो गया । यही नहीं अलगाव और दमन का भी अन्त नहीं हुआ । केवल इतना हुआ कि एक लम्बी श्रृंखला टूट गई, जो अतीत के गर्त में आरम्भ हुई थी । जो स्वीकृति जनता द्वारा छुआछूत को मिली थी, छिन गई । कुछ कड़ियां बची थी परन्तु कोई भी उन्हें फिर जोड़ न सका ।

गांधी जी शुरू से अन्त तक जन्मसिद्ध ऊँच-नीच भाव के प्रति विरोध व्यक्त करते रहे । दुनियां में सभी मानव समान हैं यह विचारधारा गांधी जी की आत्मा है । अस्पृश्यता के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि "धर्म-शास्त्रों में कुछ भी लिखा हो, अस्पृश्यता शैतान के दिमाग की उपज है । वह धर्म नहीं, अधर्म है ।"[1]

गांधी जी के नेतृत्व में राजनीतिक सत्ता की बागडोर मिलने पर कांग्रेस ने देश के सर्वांगीण विकास का कार्यक्रम सामने रखा, जिसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता के साथ-साथ अस्पृश्यता निर्मूलन को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था ।

गांधीजी का आग्रह था कि "अस्पृश्यों को भी सार्वजनिक जीवन में सवर्ण हिन्दुओं की बराबरी तथा राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए । आगे उनका कथन था कि "अस्पृश्यता की समस्या से जहां तक मेरा सम्बन्ध है मैं इसे हिन्दू धर्म के लिए जीवन मरण का प्रश्न मानता हूँ ।

---

1. गांधी : पृ. 209

जैसा कि मैंने बार-बार कहा कि यदि अस्पृश्यता कायम रहती है तो हिन्दू धर्म, बल्कि स्वयं हिन्दुस्तान हिन्दुओं के हृदय से समूल मिट जाती है तो हिन्दू धर्म के पास विश्व को देने के लिए एक निश्चित सन्देश होगा । अगर अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का अनिवार्य अंग है, तो कहना होगा कि इस धर्म में कोई दम नहीं रह गया है ।"[1]

इस तरह यह कहा जा सकता है कि खिलाफ थे । उन्होंने 1932 में "हरिजन सेवक संघ" की स्थापना की । उन्होंने सबसे अधिक उच्चवर्णीयों के विवेक बुद्धि, न्यायनिष्ठा और देश प्रेम जागृत करने पर ही बल दिया । इस कारण-वश अस्पृश्यता निर्मूलन का कार्यक्रम सीमित नहीं रहा । इन समस्याओं को इन्होंने कानूनी तरीकों से सुलझाया । इस सन्दर्भ में उन्होंने कहा था कि "अस्पृश्यता दूर करने का अर्थ सिर्फ इतना ही नहीं है कि जिन्हें हम अस्पृश्य मानते हैं उन्हें छूने लगे । अवसर आने पर प्रेम भाव से उनका स्पर्श तो करना ही है । किन्तु, इसका अर्थ कहीं अधिक है । अस्पृश्यता नष्ट का अर्थ है कि ऊँच-नीच का भाव भूल जाना चाहिए ।"[2]

गांधी ने कहा था कि मनुष्य को कथनी और करनी में कोई अन्तर नहीं रहना चाहिए । ऐसा न केवल उन्होंने कहा बल्कि किया भी । उन्होंने "हरिजन (साप्ताहिक) पत्रिका भी निकालनी शुरू की तथा कालान्तर में कानून के तहत अस्पृश्यों के लिए मंदिर के द्वार भी खुल गये । गांधीजी और अम्बेडकर के विचारों एवं कार्य पद्धतियों में काफी अन्तर है । क्योंकि दोनों के व्यक्तित्वों व कार्य क्षेत्र अलग थे । गोलमेज सम्मेलन अछूतों के लिए पृथक निर्वाचन मंडल की, अम्बेडकर की मांग, यरवादा जेल में गांधी के आमरण उपवास व समझौते आदि से उनके विचारों का परिक्षेत्र व जीवन सन्दर्भ का बोध होता है । डा० अम्बेडकर ने

---

1. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय (खण्ड-64) पृ. 39-40
2. गांधी ने कहा था : पृ. 35

हिन्दू समाज - व्यवस्था में सदियों से आत्महीन बनाये उन लोगों में आत्माभिमान जगाया जो दलितों के नाम से जाने जाते थे। गांधी जो अस्पृश्यता के विरुद्ध स्वर्णों की पथराती हुई अंतरात्मा को झकझोरने में लगे, जबकि उस समय अम्बेडकर दलितों को जगाने का प्रयत्न कर रहे थे। गांधी जो सवर्णों में अपने पूर्वजों और खुद अपनी अमानुषिकता के लिए पाप बोध जाग्रत करने का कार्य कर रहे थे। उनकी भांति गांधी का पश्चाताप भाव और न्याय बुद्धि जगाने का यह प्रयत्न एक तरह से सही था क्योंकि दलितों की स्थिति दयनीय थी।

डा० विनायक मौर के अनुसार "गांधी जो अन्तिम समय तक ब्राह्मणी चातुर्वर्णीय समाज-व्यवस्था के समर्थक रहे। अछूतों की ओर देखने का उनका दृष्टिकोण पूरी तरह दयावादी था, सनातन धर्म के प्रति उनकी बड़ी निष्ठा थी।"[1] पर अछूतों को दया नहीं, मुक्ति चाहिए थी। समाज में एक सम्मानीय स्थान चाहिए था। गांधी जी ने अंग्रेजों के विरुद्ध स्वराज्य प्राप्ति के लिए कई जन आन्दोलन किया और इनमें अब्राह्मण जातियों की संख्या ज्यादा रही। जिसमें कांग्रेस को व्यापक जनाधार प्राप्त हुआ। पर अछूतोद्धार का भी एक कार्यक्रम रखा था, पर इस कार्यक्रम को कोई जनाधार प्राप्त नहीं था गांधी जी ने इस सवाल को एक राजकीय दावपेंच के रूप में लिया था। इससे इसका अधिक महत्व नहीं था क्योंकि गांधीजी को हिन्दू धर्म में अटूट निष्ठा थी।

गांधी जी हिन्दू धर्म और उसकी वर्ण-व्यवस्था के बहुत बड़े संरक्षक थे हिन्दू धर्म का पतन वह देख नहीं सकते थे। शायद इसीलिए उन्होंने अछूतों को "हरिजन" नाम दे दिया।

---

1. बौद्धधर्म के विकास में डा० बी०आर०अम्बेडकर का योगदान : पृ० 96

"हरिजन" याने "हरि के जन" । जब अछूत हरि अर्थात नारायण के भक्तजन हैं तो सवाल यह उठता है कि यह भेद-भाव क्यों । क्यासभी मनुष्य भगवान के भक्त नहीं होते । फिर क्योंकर शूद्रों को ही "हरिजन" नाम मिला । सवर्णों को नहीं ।

डा० अम्बेडकर ने सवर्णों द्वारा दिये जाने वाले अपमान, अन्याय और अमानुषिक व्यवहार आदि को भोगा था इसलिए शूद्रों के प्रति होते अन्याय से वे भली-भांति परिचित थे उन्होंने जाति प्रथा, अस्पृश्यता और उसके साथ अभिन्न रूप से जुड़ी सामाजिक विषमता आदि का विरोध किया । डा० अम्बेडकर यह भाली-भांति जानते थे कि समाज की स्वतन्त्रता का आधार उनकी राजनीतिक चेतना पर निर्भर करता है । इसलिए वे दलित चेतना को राजनीतिक चेतना से दूर नहीं रखना चाहते थे ।

डा० अम्बेडकर ने जात-पात और अछूतपन की समस्या के समाधान के लिए व्यापक लोकतान्त्रिक तत्वों तथा मूल्यों पर आधारित सांस्कृतिक-सामाजिक क्रान्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । ये सुधार या हृदयपरिवर्तन में विश्वास नहीं करते थे । इनका दृष्टिकोण क्रान्तिकारी था । उन्होंने आम आदमी के मतदान अधिकार की मांग सायमन कमीशन के सामने रखी और सार्वत्रिक चुनाव प्रणाली का जबरदस्त समर्थन किया । इनका उद्देश्य दलितों में राजनीतिक चेतना जागृत करना था । सार्वत्रिक प्रणाली के कारण दलित समाज में व्यापक राजनीतिक चेतना जागृत हुई ।

मधुलिमये ने गांधी और अम्बेडकर के मिलकर काम न कर सकने के तीन कारणों पर जोर दियाहै। "(1) जातिप्रथा और अस्पृश्यता की बुराई के विश्लेषण

में दोनों के बीच मूल दृष्टिभेद था ।, §2§ पेरवाडा समझौतों के वायदों को लागू नहीं किया गया ।, §3§ दलित मुक्ति के उपायों और नेतृत्व के सम्बन्ध में दोनों में मौलिक मतभेद ।"[1]

वस्तुत: डा० अम्बेडकर जनवादी क्रान्ति के समर्थक थे । व उन सामान्य-जन के लिए लड़ रहे थे जो अछूत गुलाम था और ब्राह्मणी समाज, साम्राज्यवादी और पूंजीवादी व्यवस्था से पीड़ित था । यह मजदूर वर्ग था व हिन्दुओं के निगाह में अछूत या अस्पृश्य था । अम्बेडकर साम्राज्यवाद के विरोधी भी थे । वे प्रगतिशाली राष्ट्रीय आन्दोलन में मार्क्सवादीऔर गांधीवाद से एक कदम आगे थे । वे तथाकथित साम्यवादियों के विरोधी इसलिए थे क्योंकि अछूतों को कांग्रेस ने जिस तरह राजनीतिक दांव-पेंच के रूप में इस्तेमाल करने की कोशिश की थी, साम्यवादियों ने भी लगभग वही तरीका अपनाया था ।

साम्यवादियों ने मार्क्सवाद के वर्गीय आधार को अपनाया । उनका कहना था "वर्गीय आधार पर भारत के इतिहास के ऐतिहासिक विश्लेषण के कारण उन्हें इस सत्य का साक्षात्कार हुआ कि वर्ण-व्यवस्था सत्य है इसलिए वर्गीय संघर्ष आवश्यक है । जाति-पाति अछूतपन असत्य है, मिथ्या है, माया है । इसलिए वह इस देश की कोई समस्या ही नहीं है । और जो लोग जाति-पाति, अछूतपन के खिलाफ आन्दोलन कर रहे थे, लिख रहे थे, बोल रहे थे, सामान्य जनों को संगठित कर संघर्ष के लिए जाग्रत कर रहे थे, वे उनकी दृष्टि से सुधारवादी और फूटवादी नेता थे ।"[2]

---

1. हरिजन से दलित : पृ. 118
2. बौद्ध धर्म के विकास में डा० बी.आर.अम्बेडकर का योगदान : पृ. 101

बावजूद इसके मार्क्सवादियों की इस धारणा को शत प्रतिशत खारिज नहीं किया जा सकता कि "यों अम्बेडकर दलितों को जरूर एक स्वतन्त्र राजनीतिक शक्ति में तब्दील कर दे सके किन्तु भारतीय सामाजिक क्रान्ति के सम्बन्ध में उनके "विजन" में स्पष्टता नहीं रहने के कारण वे दलित मुक्ति के लिए कोई बुनियादी रणनीति सूत्रबद्ध नहीं कर सके। इसी कारण आज अम्बेडकर के नाम पर उनका हर अनुयायी अपनी संकीर्ण कार्यनीतियां लेकर हाजिर है। कोई दलित मुक्ति के प्रश्न पर भविष्योन्मुखी या दूरगामी दृष्टि से सोचने के लिए तैयार नहीं है।"[1]

जाहिर है कि दलितों के लिए शासन की विभिन्न इकाईयों में आरक्षण का प्रावधान डा० अम्बेडकर के पुरजोर प्रयासों का ही परिणाम है किन्तु इस संदर्भ में मार्क्सवादियों का मानना है कि "आरक्षण के फलस्वरूप एक ग्रामीण भूदास का एक नौकरशाह में रूपान्तरण निःसन्देह दलित निम्न पूँजीपति वर्ग को अपनी संख्यागत और सामाजिक शक्ति के बतौर शक्ति वृद्धि करने और सुसंगठित होने की मदद की, तथापि इसने दो बड़े उपकार किये। एक तो इससे दलितों के एलिट सेक्शन को कांग्रेस का दलाल बना दिया तथा दूसरे दलितों के पिछड़े तबको खासकर गरीब भूमिहीन किसान तबके, को एक स्वतन्त्र राजनीतिक शक्ति के बतौर उठ खड़ा होने में मेकेनिज्म में ऐसा कुछ नहीं है। जो दलितों की बहुसंख्या से समर्पित दलितों को ही विधानसभा और संसद में दलितों का राजनीतिक प्रतिनिधि बनने दे। उनको नहीं, जिन्हें सवर्ण उनका प्रतिनिधि बनना चाहते थे। फिर, इससे दलितों के अंदर बड़े पैमाने पर रिरियासतवाद ही पनपा है। तथापि इससे दलित बुद्धिजीवियों के अन्दर कुछ सरकार-विरोधी, कांग्रेस-विरोधी जनवादी तत्व भी उभरे और उम्मीद की जानी चाहिए कि ये तत्व जनवादी और वामपंथी आन्दोलनों में अधिक से अधिक शामिल होते जायेंगे। इसलिए जाति आधारित आरक्षण को कम्युनिस्ट एक आवश्यक बुराई मानते हुए भी उसका समर्थन करते हैं। बरहाल आरक्षण के 50 वर्षों ने यही स्पष्ट किया है कि यह दलितों का उत्थान तो नहीं कर सका, उलटे इसने उनको अपने स्वाभाविक मित्रों, सवर्णों के दरिद्र तबके का ईर्ष्याभाजन बना दिया।"[2]

---

1. हरिजन से दलित : पृ. 130
2. हरिजन से दलित : पृ. 131-132.

भारत के अग्रगण्य, समाजवादी नेता व विचारक डा० लोहिया के "द कास्ट सिस्टम" {जातिव्यवस्था} किताब में जाति - व्यवस्था सम्बन्धी कुछ लेख पत्र व टिप्पणीयां संग्रहित है। इन्होंने कांग्रेस से हटकर अलग सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की। हालांकि ये गांधी जी को अहिंसा और सत्याग्रह के बारे में अपना नेता मानते थे, और इनके भक्त भी थे लेकिन गांधीवादियों के प्रशंसक नहीं।

डा० लोहिया के अछूतपन व जाति जात - पांत की संरचना के सन्दर्भ में विचार थे कि -जाति-प्रथा को भारतीय मानस में मान्यता देकर आदमी - आदमी में भी भेद किया है।

अछूत के साथ दुर्व्यवहार किया जाता है। मनुष्य से अधिक जाति में ही प्रमुखता रही है। उच्च वर्ग निम्न वर्ग को हमेशा ही घृणा की दृष्टि से देखता आया है। और आज भी लोग उसी धारणा को दोहराते आ रहे है।

साथ ही लोहिया का मानना था कि "अछूतों के साथ गैर बराबरी का व्यवहार किया जाता है । जात-पाँत, भाषा और कोमत यह तीन बातें इस देश में सरंजाम शाही शोषण के हथियार हैं ।"[1]

उनका कहना था कि एक विशेष अवसर पिछड़ी जातियों को देने चाहिए । उपयुक्त मत में हम देखते हैं कि जो अवसर डा० लोहिया पिछड़ी जातियों को देना चाह रहे हैं, वह एक तरह से केवल अर्थवाद है । जो पूरी तरह समर्थनीय नहीं है । डा० अम्बेडकर का दृष्टिकोण विशेष अवसर या अर्थवाद नहीं है, बल्कि पूर्णतया सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक अधिकार दिलाना है । ताकि इन्हें भी समाज में सम्मानीय स्थान प्राप्त हो सके ।

यह एक सर्वविदित सत्य है ; कि भारत के मानवीय इतिहास में डा० अम्बेडकर ऐसे महापुरुष हुए जिन्होंने दलित पीड़ित, उपेक्षित एवं सर्वहारा लोगों के दु:खों को दूर करने का नेतृत्व संभाला व दलितों के मुक्ति के लिए अग्रसर हुए । अपने महान् एवं ओजस्वी विचारों तथा क्रान्तिकारी आदान से उन्होंने निरीह, उपेक्षित एवं पद-दलित लोगों को सशक्त वाणी दी । इन्होंने दलितों की समस्याओं को प्राथमिक रूप में लिया तथा उनके समाधान हेतु जीवन भर सतत् संघर्ष में लगे रहे ।

डा० अम्बेडकर के पश्चात् दलित वर्ग को किसी योग्य एवं प्रभावी नेता का नेतृत्व नहीं मिल सका । यद्यपि बाबू जगजीवन राम भी दलित समाज की ही उपज थे तथा देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन में हिस्सा लेने के साथ निरन्तर तीन दशक से भी अधिक लम्बी अवधि तक भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों का

---

1. बौद्ध धर्म के विकास में डा० बी०आर० अम्बेडकर का योगदान : पृ० 106

कार्यभार संभालते रहे हैं । किन्तु, दलित समाज के प्रति उनकी विशेष उपलब्धियाँ नहीं रही । दलितों के लिए मुखर होकर कुछ करने की बजाय उन्होंने संसदीय सुख के साथ जीवन जीना ही श्रेयस्कर समझा । अर्थात्, उन्होंने दलितों के लिए काफी कुछ नहीं किया । हालांकि उन जैसे व्यक्ति से समाज को ज्यादा अपेक्षाएं थी । क्योंकि एक तो वे भारत की राजनीति में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते थे, दूसरे वे तीन दशक से भी अधिक समय तक निरन्तर सत्ता में बने रहे । तीसरे यह कि डा० अम्बेडकर की मृत्यु के बाद दलितों ने उनको ही अपना नेता माना इसलिए डा० अम्बेडकर के चले जाने के पश्चात् दलित समाज उनका ही सहारा रह गया था ।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि अन्यायपूर्ण जाति-व्यवस्था के विरुद्ध एकजुट संघर्ष करने के बजाय सामाजिक क्रान्ति की शक्तियां न सिर्फ बंटी हुई है, वरन् एक दूसरे को काटने में अपनी शक्ति नष्ट कर रही है । किन्तु, जहां तक दलित मुक्ति आन्दोलन की विचारधारात्मक पृष्ठभूमि का प्रश्न है, स्पष्ट ही इससे जुड़े तमाम लोग अम्बेडकरवादी विचारधारा को ही अपना आदर्श मानते रहे हैं ।

--

अध्याय दो

2. दलित साहित्य : अवधारणा एवं स्वरूप

2.1 दलित साहित्य की अवधारणा

2.2 दलित साहित्य का स्वरूप

2.3 सवर्ण साहित्य बनाम दलित साहित्य

2.4 दलित आत्मकथा लेखन

अध्याय दो

2. दलित साहित्य : अवधारणा एवं स्वरूप

दलित साहित्य अन्य साहित्य को भाँति ही समाज रूपी सीप से निष्पन्न कला का वह मोती है जो हृदय तत्व, बुद्धि तत्व और कलातत्व के समन्वय से बना है और जिसके सामाजिक निहितार्थ रेखांकनीय है ।

स्पष्ट ही साहित्य सामाजिक जीवन का एक प्रमुख अंग है । जो समाज या राष्ट्र जितना सुसंस्कृत होगा उसका साहित्य भी उतना ही संस्कारित होगा । समाज के रंग-ढंग और सुख:-दुख को साहित्यकार अपनी कलम से चित्रित करता है । एक तरह से जीवन की समग्र व्याख्या साहित्य में सम्मिलित रहती है ।

साहित्य जड़ताओं, विषमताओं, विद्रूपताओं और अंधमृत कुसंस्कारों को त्यागने के लिए वातावरण तैयार करता है । सामाजिक मान्यताओं में जो ठहराव है, प्रवृत्तियों में जो बौनापन है , दृष्टि-सृष्टि में जो विभेद है, उसे परत-दर-परत कुरेद-कुरेद कर साहित्य समाज को स्वच्छता प्रदान करता है ।

दलित साहित्य उत्पीड़न व शोषण से उत्पन्न आक्रोश की अभिव्यक्ति है । सामान्य मनुष्य के जीवन में दु:ख है । यदि हम दु:खों के कारण को जानने लगेंगे तो, यह वेदना का रूप नहीं रह जाएगा । इससे अनुभव में एक प्रकार से विस्तार आता है और विस्तृत व आन्तरिक रचना से रहित अनुभव किसी एक

व्यक्ति का वैयक्तिक अनुभव नहीं रहता, बल्कि उसे सार्वजनिता प्राप्त होता है । इसी गतिशीलता की अपरिहार्य परिणीति आज का दलित साहित्य है ।

2•। दलित साहित्य की अवधारणा :

शताब्दियों से चली आ रही वर्णाश्रम व्यवस्था के कारण उत्पन्न शोषण, पीड़ा व अत्याचार की घुटन की मुक्ति के लिए जिस चेतना का उदय हुआ, वह साहित्य में दलित साहित्य के रूप में प्रकट हुई । यह शोषण मात्र आर्थिक ही नहीं अपितु सामाजिक, धार्मिक व राजनीतिक भी था, इसी कारावास की मुक्ति का ही मार्ग है दलित साहित्य ।

आज दलित साहित्य काफी चर्चा का विषय है जिसमें खासकर दलितों की उत्पत्ति, दलित कौन ? दलित का आशय, आदि कई विवादास्पद प्रश्न है । इन सबको समझने से पूर्व "दलित" शब्द के मूल को समझने से "दलित" का आशय अपने-आप स्पष्ट हो जायेगा ।

दलित शब्द अपना परिचय स्वयं देता है । वह अपरिभाषेय नहीं है । दलितों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में उन्नीसवीं शताब्दी की महान् विभूतियों ने काफी विचारा है । इनमें महात्मा ज्योतिबा फुले व डा० बी•आर• अम्बेडकर प्रमुख हैं । भले ही दलित शब्द का प्रचलन आजकल चल रहा है । पर दलितपन अति प्राचीन है । महात्मा फुले ने दलितों के लिए अतिशूद्र कहा जिसका अर्थ सबसे निचली जाति के अछूत हैं । डा० बी•आर• अम्बेडकर ने who were the Shudras (1947) और The untouchables (1948) जैसी पुस्तकों में दलितों के बारे में विस्तृत विवेचन किया है । उन्होंने अछूतों के लिए अंग्रेजी शब्द untouchable का प्रयोग किया है ।

संस्कृत में "दलित" शब्द की उत्पत्ति "दल" धातु से हुई है जिसका अर्थ तोड़ना, हिस्से करना, कुचलना आदि है । विभिन्न विद्वानों ने अपने मंतव्यों को प्रस्तुत किया है तथा भिन्न-भिन्न शब्द कोशों में दलित शब्द के विभिन्न अर्थ दिए गए हैं । वस्तु दलित वह जाति है, जिसे सवर्णों द्वारा गाँवों से बाहर रहने पर विवश किया गया, जिसे सवर्ण अपने से दूर रखते हैं । जिन पर अमानुषिक अत्याचार किये जाते हैं जिनका समाज में स्थान नहीं के बराबर है । विभिन्न कोशों में दलित शब्द की जो व्याख्या की गई है उसके सन्दर्भ में यही स्पष्ट होता है कि जो सदियों से कुल कुचले गए थे, जिन्हें धार्मिकता की आड़ में छला गया है, जो मसला हुआ, मर्दित, रौंदा हुआ, कुचला गया है, जिन्हें हमेशा दबकर रहने पर विवश किया जाता है, वे ही दलित हैं ।

24 फरवरी 1974 में हुए सम्मेलन में मराठी के दलित नाटककार श्री मि॰शि॰ शिन्दे ने दलित शब्द की व्याख्या इस प्रकार की थी, दलित के अंतर्गत :

"§1§ भारतीय समाज का वह भाग आता है, जिसे अस्पृश्य या अछूत समझा जाता है ।

§2§ बहुत ही कम वेतन या मजदूरी में जो चौबीसों घन्टे खेतों में श्रम करने के लिए मजबूर है , शोषित है ।

§3§ दुर्गम पहाड़ों, वनों, जंगलों में जीने के लिए मजबूर जन-जातियाँ आदिवासी समाज ।

§4§ पूंजीवादी व्यवस्था के कारण आर्थिक दृष्टि से जो दुर्बल है, वह बहुजन समाज है ।

§5§ अराष्ट्रीय कहकर जिन्हें हमने नकारा है, वह अल्पसंख्यक §मुस्लिम§ समाज ।"[1]

1॰ मधुमती : पृ॰ 84

डा० पुरूषोतम सत्यप्रेमी दलित साहित्य के विस्तार में दलित शब्द का अर्थ कुछ इस प्रकार देते हैं "दलित साहित्य में प्रयुक्त शब्द का संविधान या शासन द्वारा घोषित अनुसूचित जाति, अनुसूचित जन जाति एवं पिछड़े वर्ग की जातियों के लोग ही नहीं अपितु दलित शब्द एक व्यापक संवेदन है, विचार है, जिसका अर्थ दबाया गया है, दबा हुआ नहीं । सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, एवं सांस्कृतिक दृष्टि से शास्त्र एवं शस्त्र के बल पर दबाया गया, मनुष्य किसी भी जाति वर्ण, धर्म, मत, पंथ का, भौगोलिक क्षेत्र का हो, दलित है ।"[1]

बाबा साहेब अम्बेडकर ने दलित शब्द का प्रयोग साहित्यकारों में नूतन-चेतना का आह्वान करने के लिए किया है वे कहते हैं "इसलिए मुझे साहित्यकारों से अपनी सारी शक्ति लगाकर कहना है कि आप अपने साहित्य निर्माण द्वारा उदात्त जीवन मूल्यों और सांस्कृतिक मूल्यों को विकसित करें । अपने विचार संकुचित और सीमित न रखें, उन्हें विशाल बनाएं, अपनी वाणी को चारदीवारी से बाहर निकलने दें । अपनी लेखनी का प्रकाश अपने आंगन में ही न रोक लें । उसका तेज गांव-गांव में व्याप्त गहन अंधकार को दूर करने के लिए फैलने दें । यह भूलें न अपने इस देश में उपेक्षितों, दलितों और दुखियों का अपना संसार है, उनके दु:ख उनकी व्यथा समझें और अपनी सृजन शक्ति उनके जीवन को उन्नत करने के लिए होम दें । यही सच्ची मानवता होगी ।"[2]

प्रोफेसर डा० आर०जी० सिंह दलित शब्द को सामाजिक रूप में प्रस्तुत करते हुए बताते हैं कि "दलित लोग सेवक व दत्तगोर जातियों में से थे । जो आर्थिक व सांस्कृतिक दृष्टि से निम्न कोटि का काम करते हैं ।"[3]

---

1. दलित साहित्य चिन्तन के विविध आयाम : पृ. 12
2. दलित साहित्य : चिन्तन के विविध आयाम : पृ. 24
2. - वही - : पृ. 24

ओमप्रकाश वाल्मीकि के अनुसार "दलित" शब्द दबाये गये, शोषित, पीड़ित, प्रताड़ित के अर्थों के साथ जब साहित्य से जुड़ा है तो विरोध और नकार को ओर संकेत करता है ।"[1]

वी॰आर॰के॰ अय्यर के अनुसार दलित शब्द का मोटे तोर पर आशय "जन संख्या के उस शोषित व पीड़ित वर्ग से है जो परम्परागत आधार पर सदियों से सामान्य सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक अधिकारों से वंचित रहा है ।"[2]

डा0 सोहनपाल सुमनाक्षर के अनुसार "दलित शब्द मूक नहीं है । यह अपनी परिभाषा स्वयं उद्‌भाषित करता है । दलित वह है, जिसका दलन किया गया हो, शोषण किया गया हो, उत्पीड़न किया गया हो । उपेक्षित, अपमानित प्रताड़ित - बाधित और पीड़ित व्यक्ति दलित श्रेणी में आते हैं । इस तरह दलित शब्द की परिभाषा के अन्तर्गत सदियों से सामाजिक, वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद से अभिशप्त, दलित, शोषित, उपेक्षित व उत्पीड़ित व्यक्ति आते है, वही सदियों से प्रताड़ित, उपेक्षित, अपमानित शोषित, सामाजिक बन्धनों में बंधी नारी एवं बच्चे भी इस श्रेणी में शामिल हैं । भूमिहीन, अछूत, दास, गुलाम, दीन और निराश्रित भी दलित ही हैं ।" आगे उन्होंने लिखा है, कि दलित शब्द उन बेजुबानों की आवाज है, जिनकी जुबान वेदमंत्र, दोहराने पर काट दी गई, उन लोगों को श्रवण शक्ति है जिनके कानों में वेदमंत्र सुनने पर उबलता हुआ शीशा उड़ेल दिया गया । उन लोगों के हाथ है, जिन्हें समानता के अधिकार मांगने के अपराध में हाथ काट दिया गया और उन लोगों के पांव हैं जिन्हें न्याय की याचना करने के लिए कलम कर दिया गया । दलित शब्द

1॰ अगुत्तर पत्रिका : दलित साहित्य सम्मेलन भाषण : पृ॰ 14

2॰ भारतीय दलितों की समस्याएं व उनका समाधान से उद्धृत : पृ॰ 94

आक्रोश, चीख, वेदना, पीड़ा, चुभन, घुटन, छटपटाहट का प्रतीक है । यह उन लोगों की ओर संकेत करता है जो अमानुषिक सामाजिक व्यवस्थाओं में बंधे अन्य को प्रताड़ना सहते , चीखते, चिल्लाते रहे, पर उनकी वेदना, पीड़ा, चुभन, घुटन और छटपटाहट को अनदेखा कर मनुस्मृति की जालिम न्याय प्रणाली की दुहाई देकर, उन्हें उनके रिसते घावों पर नमक - मिर्च छिड़का गया । ताकि वे और छटपटाए । धीरे-धीरे भाग्य, भगवान और विधि का विधान मानकर वे कुण्ठित होकर बैठ गये । यह उन लोगों का प्रतिनिधि है, जो सदियों से बंधुआ बने नारकीय जीवन जीते रहे । खून के आँसू पी बेबसी में बेबस बेगार करते रहे, माँ-बेटियों की अस्मिता से खिलवाड़ करते देखकर भी आक्रोश को रोके रहे । हर क्षण-कदम-कदम पर अत्याचार अपमान, तिरस्कार सहते हुए सब्र का घूँट पीते रहे ।"[1]

इस प्रकार दलित शब्द, दलित समुदाय की स्थिति से अवगत कराता है । मात्र शोषित या उपेक्षित मानव ही दलित नहीं, बल्कि, जो सदियों से दासता का जीवन जी रहे हैं, जो समाज में अपने वर्चस्व की कल्पना तक नहीं कर पाये, बल्कि उन्हें करने ही नहीं दिया गया, जो मात्र नीचे व गंदगीपूर्ण काम करने के लिए बाध्य किए जाते हैं, उनका शोषण शस्त्र व शास्त्र दोनों ही तरह हुआ, उनका वर्तमान अतीत, उनका भविष्य, अंधकारमय रहा है । जहाँ एक जानवर मंदिर के प्रवेश का अधिकारी है वहाँ अछूत मन्दिर के छाँव के लिए भी नहीं था । उनका अपना अस्तित्व इन ऊँचे लोगों के पाँवों तले कुचला गया । गुलामों से भी बदत्तर इनकी जिन्दगी थी । परम्परा से चले आ रहे रूढ़ियों की बेड़ियाँ तोड़ डाल देना की प्रेरणा ही दलित शब्द की प्रखरता है । उनकी, अस्मिता व अत्याचार की पहचान ही, उन्हें आज शोषकों, कुकर्मों अन्यायाईयों, उनके द्वारा छाये गये जुल्म, उनके दुराचारों से स्वतन्त्र होने का आवहान

---

1. दलित साहित्य : चिन्तन के विविध आयाम : पृ. 62-63

करती है । दलित शब्द निर्जिवता से सजीवता की ओर एक धागा है । जिसे सफल बनाने की ओर इंगित करता है यह शब्द, दलित शब्द एक सच्चा पथ प्रदर्शक है जो प्रगति की ओर ले जाता है ।

दलित कौन है ? दलित किसे कहना चाहिए ? यह भी काफी विवादास्पद प्रश्न है । कुछ लोगों का मत यह है कि दलित कोई जाति नहीं है । इस अवस्था में लाचार, दुराचार व शोषण से पीड़ित मनुष्य को देखा जाता है ।

एक मत के अनुसार "सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से जिसका शोषण होता है । स्वतन्त्रता, समता और ब्रह्म प्रगति से अपरिचित रहकर जो अपने मालिक की प्रामाणिक दासता निभाता है और जिसके जीवन में ज्ञान या प्रकाश के अभाव में अज्ञान या अन्धेरा हो अन्धेरा छाया हुआ रहता है - ऐसे व्यक्ति दलित हैं, चाहे उसकी जाति ब्राह्मण हो क्यों न हो ।"[1]

इस मंतव्य के तहत केवल, पीड़ित मनुष्य ही दलित है । पर शोषित तो हर मनुष्य है तो वे दलित कैसे कहलाएंगे । दलित वे है जो सदियों से गुलामों का जीवन जीने के लिए बाध्य है । उनका अस्तित्व वर्णाश्रम की चक्की में पीसा गया, कुचला गया । नागपुर में आयोजित दलित साहित्य सम्मेलन में डा० मा०ना० वानखेडे का कहना था कि "दलित संज्ञा की परिभाषा केवल बौद्ध या पिछड़े हुए वर्गीय जन ही नहीं, जो शोषित श्रमजीवी है, वे सब दलित संज्ञा में समाविष्ट होते हैं ।"[2]

---

1. प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना : पृ. 22
2. प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना : पृ. 22

यह मंतव्य व्यापक है पर डा० प्रभाकर माण्डे अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं "दलित या ऐसे व्यक्तियों का समूह जिनका मनुष्य के नाते जीने का हक छीन लिया गया है । जन्म से ही जिनके हिस्से, इस समाज-व्यवस्था में केवल एक ही प्रकार का जीवन आया है । मानव के नाते जिनका मूल्य अस्वीकृत किया गया है वे दलित है ।"[1]

दलित पैंथर्स आन्दोलन से जुड़े लोगों का इस सन्दर्भ में कहना है कि दलित वे सारे लोग हैं जो " Members of Scheduled Castes and Tribes, Neo Buddhists. The working people, The landless and poor peasants, women and all those who are being exploited politically, economically and in the name of religion "1

बाबूराव बागुल के अनुसार "वर्णाधिष्ठित समाज और उसके साहित्य ने दलित माने हीन, तुच्छ, तिरस्कृत गतजन्म का पापी और इहलोकी दु:खी दरिद्री, अपमानित, जिसका कुछ इतिहास नहीं, जिसके पुरखों को मन्दिर अथवा ग्रन्थ में पूर्ण पूजनीयता मिली नहीं , ऐसा मान लिया है ।"[2]

शंकरराव खरात,"Who were Shudras" को प्रस्तावना में लिखते हैं कि "शूद्र, अस्पृश्य, आदिवासी विमुक्त जमातें और भटकने वाली जमात, एक ही सूत्र में गुंथी हुई होकर वे जन्म, जाति व्यवसाय, परम्परागत, रूढ़ि और धर्म ग्रन्थों द्वारा दूर रखी गई है । इसलिए दलित संज्ञा की व्याप्ति में इतर वर्गों के साथ डा० अम्बेडकर की कसौटियों के अनुसार शूद्रों का वर्ग भी आता है । इन शूद्रों में ही आज के पिछड़े हुए वर्ग का समावेश हो सकता है ।"[3]

---

1. प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना : पृ. 12
2. Down Trodden : P=1 :
3. प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना : पृ. 224

श्री कराडे का कहना है कि "आर्थिक और सामाजिक रूप से पिछड़े हुए वर्ग को मिलाकर एक सर्व-समावेशक दलित वर्ग माना जाना चाहिए जिसमें मजदूर, किसान - मजदूर, श्रमिक और अस्पृश्य और जिनका शोषण होता है वे सभी शामिल हैं ।"[1]

उक्त व्याख्या में लेखक ने दलित शब्द के अंतर्गत सामाजिक और आर्थिक रूप से शोषितों को भीसमाविष्ट किया है व इसे व्यापकता दी । पर इससे दलित की मूल अर्थवत्ता स्पष्ट नहीं होती है । उल्टे अस्पृश्यों के सामाजिक मूलभूत प्रश्न से वह दूर हो जाता है । क्योंकि आज तमाम जातियों के लोग श्रमिक होते हैं जिन्हें बहुत काम करना पड़ता है । और बदले में थोड़ा सा अनाज मिलता है । वे स्वयं लोगों के खेतों में कम से कम काम तो करते हैं । पर एक दलित को जब इनकी छत्र-छाया में आने का हक नहीं था, जिसके साये से ये दूर भागते थे, उनके छूने से हर चीज अपवित्र हो जाती थी, वे भला इन्हें खेतों में कार्य करने क्यों न देंगे । यदि कोई कार्य करता तो भी उसका मूल्य इन्हें नहीं मिलता था ।

इस सन्दर्भ को पुष्टि के लिए म॰ भी॰ चिटणीस कहते हैं कि "दलित साहित्य आन्दोलन को शोषितों के साहित्यिक आन्दोलन के रूप में सम्बोधित करना चाहिए । इस प्रकार आर्थिक रूप से शोषित ब्राह्मण वर्ग का दलितों में समावेश करना पड़ेगा । मेरे विचार में जाति-वर्ग के रूप में दलित शब्द की व्याख्या करनी चाहिए । केवल आर्थिक शोषण के आधार पर इस शब्द की व्याख्या एकतरफा होगी । दलित वर्ग भारत देश का पुरातन एक और अस्पृश्य वर्ग था जिसका अनुभव

1॰ मराठी दलित कविता और साठोत्तरी हिन्दी कविता में सामाजिक व राजनीतिक चेतना : पृ॰ 52

आज शब्द रूप लेकर साकार हो रहा है । अत: इस ऐतिहासिक सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए दलित शब्द को व्याख्या करनी चाहिए।"[1]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यदि देखा जाए तो दलित शब्द शब्दकोशों के लिए नया है । इसलिए भिन्न-भिन्न नाम दिया गया है । अंग्रेजो के (untouchables) का अर्थ अस्पृश्य जातियों के अर्थ में होता है । मराठो में भी इसी शब्द का उल्लेख होता है । दलित शब्द से हिन्दू जाति-व्यवस्था का बोध होता है । जो उपेक्षित है, जो जाति-भेद अन्याय-अत्याचार का दर्शक है, जिसे गुणों से उच्चवर्णियों ने अपने कदमों तले कुचला है, जिसके स्पर्श से वे अपने आपको अशुद्ध मान लेते थे, वे हो दलित हैं ।

स्पष्ट ही प्रभाकर माण्डे द्वारा प्रस्तुत विचार उचित प्रतीत होता है । क्योंकि अछूतों का वर्चस्व शून्य में हो रहा है । उन्हें पशुओं से भी गया गुजरा हो समझा गया । दलित शब्द केवल जातिभेद को ओर इंगित नहीं करता, अपितु हिन्दू समाज-व्यवस्था को भी दर्शाता है जिसमें जन्म से हो दलितों को अपवित्र करार दिया । सवर्ण हिन्दुओं के द्वारा निर्मित धर्म-व्यवस्था को दलितों पर थोप दिया गया । दलित शब्द सर्वहाराओं को पुकार है एक सामाजिक दर्पण है । इसे मात्र आर्थिक विषमता बोधक नहीं कहा जा सकता है, बल्कि यह सामाजिक विषमता मिटाने के लिए भी प्रतिबद्ध है ।

दलित शब्द को गूंज साहित्य में भी प्रकट हो रही है । दलित साहित्य इस सन्दर्भ में एक विशेष अर्थ को प्रकट करता हुआ उसे एक अर्थ गौरव देता है, उसे एक नई पहचान प्रदान करता है । दलित साहित्य का जन्म महाराष्ट्र के

---

1. अस्मितादर्श लेखक मेला औरंगाबाद अंक (अप्रैल, मई, जून) (1974) पृ. 19

सन् 1960 में एक रचनात्मक आन्दोलन के रूप में हुआ, माना जाता है । मराठी साहित्य ने दलित साहित्य को एक नवीनता प्रदान की, जिसमें मनुष्य को एक जाति, देश , धर्म आदि सामन्ती अवशेषों से जोड़ने या तुलना के बजाय मनुष्य को मनुष्य के रूप में परखा गया । दलित साहित्य उन लोगों के बारे में चिन्ह बतलाता है जो पीड़ित हैं, शोषित हैं, जो बाह्मण जाति-व्यवस्था में शूद्र अतिशूद्र है । इसे एक अभिनव साहित्यिक विद्रोह के रूप में रेखांकित किया जाता है । स्पष्ट हो यह साहित्यिक विद्रोह वामपंथी आन्दोलन के तहत मराठी में प्रारंभ हुआ ।

डा० लोहिया ने एक बार कहा था कि "एक अदद अकाल में तीस-चालिस लाख आदमियों की मौत आजादी की लड़ाई में हजारों का मरना और सैकड़ों का आखरी दर्जे की पीड़ा भोगना, भारत-पाक सीमा के दोनों तरफ दो करोड़ से भी अधिक लोगों का अपने घरों से उजड़ जाना, छः लाख से अधिक लोगों का साम्प्रदायिक दंगों में मरना, सामूहिक बलात्कार की असंख्य घटनाओं का होना, अगर यह बुद्धिजीवि को गहरे दुःख और शोषणता के अनुभव का अवसर नहीं देते तो इसलिए कि, अपने देश में जनमानव और बौद्धिक चिन्तन में अगम खाई है । यह खाई क्यों है । मेरे पास एक व्याख्या है । भारतीय बुद्धिजीवी ऊँची जाति के हैं, जबकि अकाल या साम्प्रदायिक या राजनीतिक दुर्घटनाओं में जो मरते है, वे प्रायः पिछड़ी जातियों के या हरिजन होते हैं, वे दोनों अलग-अलग दुनिया है, दो राष्ट्र हैं ।"[1]

जाहिर है कि जहां सवर्णों को स्कूलों में पढ़ने का अधिकार था वहीं निचली जात के वर्गों को नहीं । यदि होता तो भी वे जूतों या चप्पलों के पास बैठाये जाते थे । यदि देखा जाय तो समाज में एक तनाव-सा था और इस तनाव का कारण भय था । जिससे पूरा समाज शान्त था क्योंकि इस समय इन्हें अपने

---

1. दलित साहित्य चिन्तन के विविध आयाम : पृ. 53

जुल्मों के खिलाफ लड़ने का अधिकार भी नहीं था । क्योंकि जो भी इनके खिलाफ आवाज उठाते उसे हमेशा के लिए खामोश कर दिया जाता । पर इस अशान्ति में कुछ-कुछ पहल होने लगी । लोगों में संघर्ष की भावना जागृत होने लगी, वे अन्याय के खिलाफ लड़ने लगे । इसका परिणामयह हुआ कि जो निम्न वर्गीय बच्चे स्कूलों में जाते थे उन्हें अम्बेडकर, गांधीजी, महात्मा फुले आदि के क्रियात्मक आन्दोलनों को पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ । परिणामत:उन्हें अपने पर होने लगे अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाने के लिए प्रेरणा मिली । इस नयी पीढ़ी को प्रभावित करने वालों में डा० अम्बेडकर का स्थान प्रथम है । इन्होंने जिस क्रान्ति का प्रतिपादन किया वह अम्बेडकर - दर्शन दलित साहित्य का प्रेरणा स्त्रोत है । कुल मिलाकर यह कहना सही होगा कि दलितोत्थान के मद्देनजर दलितों के लिए दलित समाज में प्रयुक्त चिर-परिचित मुहावरों से संस्पर्श की जीवन्तता से परिपूर्ण स्वयं दलित समाज से आए रचनाकारों द्वारा रचित साहित्य ही सच्चा दलित साहित्य है ।

2·2 दलित साहित्य का स्वरूप :

दलित साहित्य वस्तुत: अम्बेडकर की क्रान्तिमय-दर्शन का प्रतिफल है । हांलाकि इससे पूर्व सन्त - साहित्य मध्यकाल के भक्ति साहित्य में भी यह स्वर दिखाई देता है जहाँ विषम-समाज व्यवस्था का विरोध किया गया है, तथा दलितों पर हुए अत्याचार - अन्याय की वाणी दी गई है । इसी प्रकार भगवान बुद्ध और महात्मा फुले के विचारों में हम बहुजन-हिताय -बहुजन - सुखाय: की भावना भी पाते है । पर जिन क्रान्ति-संघर्षों का सिंहनाद दलित मुक्ति के लिए किया गया वह डा० अम्बेडकर के विचारों और उनकी जीवन दृष्टि में निहित है ।

महाराष्ट्र के भक्तिकाल में महानुभाव साम्प्रदाय व वारकरी साम्प्रदाय इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । महानुभाव सम्प्रदाय के तहत रचित साहित्य अधिक दिन नहीं रह सका । हांलाकि इसने चर्तुवर्ण समाज-व्यवस्था, हिन्दू-धर्म की रूढ़ियों, अंधविश्वासों आदि का विरोध किया था ।

"उत्तम म्हणजे ब्राह्मण । आन, अधम म्हणजे मातंग ऐसे म्हणे
परि तोहि मनुष्य देहो, आन निर्म्मित्तकार कचो असे परि वृथा
कल्पना करो ।"[1]

इसी प्रकार वारकरी पंथ के सन्तों में अस्पृश्यों को जो यातनाएं व तिरस्कार मन्दिर में भी सहने पड़ते थे, उसके खिलाफ विदीर्ण हृदय से अपनी व्यवस्था दी -

होन याति माझी देवा । कैसी घडेल तुझी सेवा
मज दूर-दूर हो म्हणती । तुज भेट कपण्या रीति
माझा लागताचो कर सिंतोड़ा घेताती करार
माझ्या गोविन्दा गोपाला कृष्णा भाकोचोखामेला ।"[2]

§हे ईश्वर तूने जाति को होन ठहराया है तब तेरी सेवा में कैसे करूँ ? मुझे सब दूर-दर रहने को कहते हैं ऐसे में मैं तुझे कैसे मिलूंगा । मेरा स्पर्श होते ही सब पुन: स्नान करते हैं । हे मेरे गोविन्द, गोपाल तेरी दया को मैं भीख मांगता हूं §"[3]

---

1. दलित चेतना : साहित्य : पृ. 120
2. - वही - : पृ. 120
3. दलित चेतना : साहित्य : पृ. 120

वस्तुत: भक्तिकाल के सन्तों ने अस्पृश्यता का विरोध अपने काव्य द्वारा किया इस सन्दर्भ में भालचन्द्र फड़के का कहना है कि "दलितों के साहित्य में युग-युग की चिर वेदना व्यक्त होती है जिसका आदि रूप संत चोखोबा के अभंगों में हमें देखने को मिलता है । चोखोबा की यह वेदना व्यक्तिगत नहीं थी, वह उसके समाज की वेदना थी । जिसे अधिक तीव्र और उत्कृष्ट रूप में उन्होंने व्यक्त किया है । उनके शब्दों में प्रकट होने वाला दु:ख अन्त:करण को विदीर्ण कर देता है ।"[1]

परन्तु भक्तिकाल के सन्तों का विरोध एक सीमित दायरे के अंतर्गत रहा । यह विद्रोही स्वर आध्यात्मिक व पारमार्थिक भक्ति काव्य में विलीन हो गया कुछ सन्तों की वाणी में शूद्र अस्पृश्य होने का दु:ख और वर्ण-व्यवस्था के प्रति आक्रोश आदि भी अभिव्यक्त हुआ है, जैसे तुकाराम की अभंगवाणी में :--

"शूद्रवंशी जन्मलो । म्हणुनि दंभे मुकलो ।
धोकाया अक्षर । मज नाही अधिकार
सर्व भावे दीन । तुका म्हणे जातिहीन ।"[2]

§शूद्रवंश में जन्म लेने के कारण, मैं वेद शास्त्रों का अध्ययन करने से वंचित रहा । मुझे यह अधिकार प्राप्त नहीं है इस दीनता का कारण हीन जाति ही है ।§

19वीं सदी में जाति प्रथा का जो विरोध हुआ, उसमें बालशास्त्री जाम्भेकर से लेकर महात्मा ज्योतिबा फुले आदि विचारक सक्रिय थे । चातुर्वर्ण्य व जाति-

---

1. दलित चेतना : साहित्य : पृ. 121
2. दलित चेतना : साहित्य : पृ. 122

भेद आदि पर जो चर्चा शुरू हुई वह "दर्पण" नामक पत्रिका के प्रथम अंक (16 मार्च 1832) में छपीं । एक अन्य पत्रिका "प्रभाकर" नाम से छपी जिसमें नेटिव्ह ने यह प्रश्न उठाया था कि "अगर अंग्रेज अस्पृश्यों कोअपने घर में नौकर रख सकते हैं और छुआछूत न मानकर वे उन्हें स्पर्श करते हैं तो सवर्ण हिन्दुओं को ही अस्पृश्यों से नफरत क्यों है, जबकि वे अंग्रेजों तक का आदर सम्मान करते हैं ।"[1]

इस वक्तव्य से स्पष्ट होता है कि तब जातिभेद को समाप्ति का कार्यक्रम प्रारंभ हो चुका था इस सन्दर्भ में "जातिभेद विवेकसार" नामक पुस्तक उल्लेखनीय है, जिसमें जातिभेद ~~~ एवं विषमता पूर्ण समाज-व्यवस्था के कारणों को बताया गया है । इसके लेखक तुकाराम ताज्या पडबल थे ।

महात्मा फुले ने भी समाज-सुधारक के रूप में ऊँच-नीच की भावना को मिटाने का प्रयास किया । उन्होंने अस्पृश्यों में आत्मविश्वास जगाने का कार्य शिक्षा के माध्यम से किया । इस काल में "विटाल विध्वंसक (अस्पृश्य विध्वंसन)" (महात्मा फुले द्वारा सम्पादित) तथा सोमवंशी मित्र (शिवराम जानवा काँबले द्वारा सम्पादित) आदि पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ । जिनमें दलितों में आत्मविश्वास स्वाभिमान और अस्मिता का भाव जगाने के साथ ही समाज को जागृत करने की प्रेरणा भी दी ।

तब एक तरफ पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन हो रहा था तो दूसरी सामाजिक सुधार आदि के कार्यक्रम भी चलाये जा रहे थे । इसी पृष्ठभूमि को लेकर मराठी में दलित साहित्य लिखा जाना आरंभ हुआ । यह ठीक ही कहा गया है कि "दलित साहित्य महाराष्ट्र के अम्बेडकरवादी दलितों की नवनिर्मितक्षम,

---

1. मराठी दलित कविता साठोत्तरी हिन्दी कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना : पृ. 34

निष्ठाओं का साहित्य है । यह उस मनुष्य के नए अस्तित्व का साहित्य है, जिसे अस्पृश्य मानकर किसी भी प्रकार के मानवीय अधिकार और संस्कार से वंचित रखा गया है । यह मनुष्य आज स्वाभिमान से विश्व के सामने अपने अस्तित्व को व्यक्त कर रहा है । वह इतना विज्ञानविष्ट तथा युगनिर्माता नहीं बन सकता था यदि बाबा साहेब ने इसका सांस्कृतिक ऐतिहासिक विश्लेषण न किया होता ।"।

बाबा साहेब अम्बेडकर के कृतित्व और चिन्तन से तथा महात्मा फुले के सामाजिक सुधारवादी आन्दोलन से प्रेरित होकर दलित युवा पीढ़ी को एक साहित्यिक मंच मिला, जिससे वे निडर होकर अपनी बेबाक भाषा के द्वारा साहित्य सृजन में जुटगए ।

मराठी में दलित साहित्य के विस्तार में लघु पत्रिकाओं व दलित पैंथर ने उल्लेखनीय योगदान दिया, जिसमें "अस्मितादर्श", "विद्रोह" व "आम्ही" आदि पत्रिकाओं के द्वारा दलित साहित्य का प्रचार हुआ ।

सन् 1960 में स्थापित "महाराष्ट्र साहित्य संस्था" जो पहले सिद्धार्थ साहित्य संघ" के नाम से जानी जाती थी, की स्थापना हुई । इससे दलित साहित्य के सृजन व प्रचार में तीव्रता आई । दलितों के प्रश्नों को चर्चा, 'जनता', "प्रबुद्ध भारत", 'बहिष्कृत भारत', 'मूकनायक' आदि समाचार पत्रों तथा अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी ।

---

1. दलित साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि : पृ. 79

2 मार्च 1958 को दादर बम्बई के मोरबाग में "महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ" द्वारा दलित लेखकों का सम्मेलन हुआ जिसमें अनेक विद्वानों ने भाग लिया । इसमें "दलित वर्गातील वाङ्मयाचा दृष्टिकोण काय असावा" (दलित साहित्य को दृष्टि क्या होनी चाहिए । आदि पर चर्चा हुई । सन् 1967 में मिलिन्द साहित्य सभा की स्थापना हुई और "अस्मिता" पत्रिका का सम्पादन हुआ जो आज "अस्मितादर्श" नाम से प्रसिद्ध है । "अस्मितादर्श" पत्रिका ने दलित साहित्य आन्दोलन को एक सही दिशा देने व उसका विकास करने में कु बहुत बड़ा योगदान दिया । विभिन्न विद्वानों व लेखकों की रचनाएं इसमें प्रकाशित होती थीं । इसके अलावा विभिन्न पत्रिकाओं ने इस सन्दर्भ में योगदान दिया, जिसमें निकाय, प्रमेय, दलित, क्रान्ति, जातक, विद्रोह, संसद समाज आदि उल्लेखनीय हैं ।

वैसे देखा जाए तो सन् 1873 ई में "गुलामगिरी" नामक पुस्तक महात्मा ज्योतिबा फुले द्वारा रचित हुई, जिसमें शूद्रों को गुलामी के विरुद्ध वैचारिक व्यवहारिक संघर्ष का आह्वान था । इस सन्दर्भ में मैनेजर पाण्डेय का कथन द्रष्टव्य है : "आन्दोलन से पैदा होने वालाऐसी चेतना दलित समाज में सबसे पहले महाराष्ट्र में जागी । वहां 19 वींसदी में ज्योतिबा फुले ने शूद्र, अतिशूद्रों तथा स्त्रियों की गुलामी के विरुद्ध जीवन भर वैचारिकी और व्यवहारिक संघर्ष चलाया । उन्होंने 1873ई.में "गुलामगिरी" नामक पुस्तक जिसे लिखी थी जिसे दलित आन्दोलन का "घोषणापत्र" और बुनियादी दस्तावेज कहा जाता है । महात्मा - फुले के वैचारिक अभियान की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने भारतीय समाज और संस्कृति इतिहास की दलितों की दृष्टि से व्याख्या की और हिन्दू समाज की संरचना में दलितों की पराधीन स्थिति का विस्तृत विश्लेषण करते हुए दलित समुदाय में जागरण व विद्रोह की चेतना पैदा की ।"[1]

- -

1. दलित चेतना : साहित्य : पृ. 6-7

महाराष्ट्र के दलित समुदाय की गरीबी, बेबसी और यातना की मार्मिक अभिव्यक्ति "ज्ञानोदय" पत्रिका में "महारी और मातंगों का दुख:" नामक लेख द्वारा सन् 1855 में हुई जो जो ज्योतिबा फुले द्वारा लिखित है। इसे दलित चेतना की अभिव्यक्ति की पहली रचना कहा जा सकता है।

20वीं शताब्दी में फुले के बाद अम्बेडकर के विचारों से अनुप्राणित दलित साहित्य का सृजन होने लगा। जिसमें उपन्यास, नाटक, कहानी, कविताओं व रंगमंच आदि से सम्बन्धित लेखन बड़ी मात्रा में सामने आया।

दलित कविताओं का सृजन एक विशिष्ट जीवन सन्दर्भ को लेकर प्रस्तुत हुआ। किसी कविता में विद्रोह है तो किसीमें ~~कविता में विद्रोह~~ आत्माभिव्यक्ति का स्वर है तो किसीमें सामाजिक रूढ़ियों का विरोध। कई कवि अपनी कविता का प्रेरक अम्बेडकर को मानते हैं। इस कारण उनके सम्बन्ध में आदर भावना को व्यक्त करते हुए कई कविताएँ लिखी गई हैं। इनमें दसाल की "डा० अम्बेडकर", "आता या कविता", "ज०वि०पवार की "आज पन्नास वर्षांनी, यशवंत मनोहर की "भीमराव रामजी अम्बेडकर", "मला पाहुन आता", "त्याच्या आठवणाशीही डोले भिडुकताना", आदि उल्लेखनीय हैं।

अन्य कवियों में नामदेव ढसाल की "गोलपिठा, प्रियदर्शिनी, "मूर्ख म्हाताऱ्याने डोंगर हालवला", केशवमेश्राम की "उत्खनन", माझ्या उदारते पासून, डाग, भयाण, आमच्या वस्तीत, ही ओबड धोबड़ माणसे, लोक चालतोल, एक दिवस भी परमेश्वराला, आदि, यशवंत मनोहर की उत्थानगुफा, दमापवार की "कोंडावाड़ा, प्रक्षोभ, आवर्त, पहिली राय, वामन निंबालकर, गाकुं साबाहेरच्या कविता, माझा मृत्यु, आठ जून अदृसष्ट, औरंगाबाद, पिंपलावाटा, इतिहास, अमुष्य, पाय, उधाचासूर्य, कालोख, माय (मां), रस्ते, प्रल्हाद चेंदवणकर, आंडिट,

माझा गाव वाला, लोकशाही, कप एक चहाचा, शेषणाई, हेसवे, लढ़ामाचे अंधाराशि, आभाल, ज· वि· पवार, नाकेबंदी, तुरंगातली पाखरे, पाणि प्या-मधी सुट्टी, दुष्कालाशी झुंज, बरली : जानेवारी 1974, अर्जुन डांगले छावणी हलते आहे, त्र्यंबक सपकाले, सुरंग आदि प्रमुख रचनाएं हैं ।

नामदेव ढसाल की कविताएं सामाजिक व्यवस्था को बदलकर नये समाज की निर्मिति का स्वप्न देखती हैं । उदा :

रक्तात पेटलेल्या अगणित सूर्यानो ।
किती दिवस सोसाम्यो घोर नाके बंदी ?
मरेपर्यंत राहायचे, का असेच युद्ध कैदी ?
तो पाहा रे तो पाहा मातीची अस्मिता,
आभाल भर झालीय
माझ्याही आत्म्याने झिंदाबादची गर्जना केलीय
रक्तात पेटलेल्या अगणित सूर्यानो
आता या शहरा शहराला आग लावीत चला ।"

अनु: मेरे लहु में प्रज्वलित सूर्यबिंब
कितने दिन सहोगे यह घोर बंदीवास
क्या बने रहोगे इस तरह युद्ध कैदी
वह देखो रे देखो मिट्टी की अस्मिता
आकाशभर में फैल गई । मेरी आत्मा भी
जिन्दाबाद की घोषणा कर बैठी । मेरे रक्त में
प्रज्वलित अगणित सूर्यों, अब इन नगरों-नगरों
को आग लगाते चलो" (गोलपिठा) ।[1]

1· दलित चेतना : साहित्य : पृ· 128

यशवंत मनोहर का "उत्थानगुफा" भी प्रमुख कविता संग्रह है । इस संग्रह में विद्रोहात्मक स्वर का विस्फोट है । "हाक" शीर्षक कविता में कवि लिखता है कि :--

"कधी नव्हे असे
आज आभाल भरून आले आहे
अणि स्मशान पेटेस्तोबर
इथे विद्रोहाच्या पाउस
कोसलणार आहे"।

अनु : "कभी नहीं हुआ ऐसे
आज बादल उमड़ कर आये
और श्मशान के जलने तक
यहाँ विद्रोह की वर्षा
होने वाली है ।" ।

दयापवार का संग्रह "कोंडावाडा" अस्वस्थ वेदना की अनुभूति होने के बावजूद उनके कलात्मक संयम को प्रकट करती है । दयापवार अपने सांस्कृतिक द्वन्द्व मिटाने हेतु अपनी तथा कविता को बलि देने के लिए प्रस्तुत है । "मरण" शीर्षक रचना में वे लिखते हैं :

"मागील पाणी गढूल आले । पुढच्या पाण्यात किती जणांचं
हां, हां, म्हणता वणवा आला । एका झाडात किती टकरावं

---

1. दलित साहित्याची प्रकाशयात्रा : पृ. 64

सणाणत गोलया चालून आल्या । पंखाने आभाल कितो ढोलाव
धारदार सुल्यांच्या दरवाज्याला §हत्तो जैसे चिपा होतात
तसे आपण हसत-हसत मारवं§ ।"[1]

अनु : § पिछला पानी दूषित था । अलग कैसे न जतन करें
देखते-देखते दावानल आया । अकेला वृक्ष कब तक टकराएं
सनसनाती आई गोलियां । आकाश में पंख डुलाती
तीक्ष्ण कील शीर्षों वाले दरवाजे पर । हाथों जैसे चिपटे होते
क्या वैसे ही हम हंसते-हंसते मरें ।§

इस प्रकार वे सड़ती व्यवस्था को मिटाने चाहते हैं और आक्रोश भी व्यक्त करते हैं । मराठी कविता का रूप 1960 के बाद लक्षणीय है जिसमें के॰ए॰ शिंदे की "जुलुस", "अवशेष", श्री कांबले की "निषेध" आदि "ज्वाला" कविता संग्रह में संगृहीत है । इसके अलावा विभिन्न कवियों की प्रतिनिधिक रचनाएं भी हैं । जिसमें रमणरणदिवे, अरुणोदय पवार, अंजली लिमकर, अरविंद पाटोले, अनिलकांबले, प्रसेनजीत ताक साँडे, इलाही जमादार , मृणाल चिंचालकर रघुनाथ कांबले, आदि कवियों की रचनाएं महत्वपूर्ण हैं । अन्य कवियों में दयापवार की ब्रोकनमेन, माझा कोंबडा, कोंबडा, मारिला एक नई शैली की कविता है साथ ही रमेश राक्षे की "बाराखड़ी", सोहिरा बनसोड की "पियादि", आदि कविताएं भी उल्लेखनीय है ।

इस प्रकार दलित कवियों की कविताओं में विद्रोहात्मक स्वर उभर कर आता है, जहां उनकी कविताओं में विद्रोहात्मक स्वर है वहां वे सामाजिक समता स्थापित करने की उज्ज्वल ~~सकारात्मक/है/X/हम/~~ कामना करता है । उनका विद्रोह नकारात्मक न होकर सकारात्मक है । इस सन्दर्भ में प्रेमशंकर का मत है कि "दलित कविता संघर्ष व विद्रोह की कविता है मानव और मानव की गरिमा

1॰ दलित चेतना : साहित्य : पृ॰ 130

का सर्वांगीण शोषण करने वाले धर्म, संस्कृति एवं साहित्य के ढोंगी रूपों पर दलित कविता बिजली की भाँति टूट पड़ती है । दलित कविता पुरोहितवादी, पूँजीवादी, सामंतवाद, धार्मिक कर्मकाण्ड, महंत देवालय, व्रत सब कुछ के जो पाप-पुण्य की कल्पनाओं के सहारे शोषण के मार्ग को खोलते हैं, उनके प्रति दलित साहित्यकार की गर्जना के स्वर विद्रोह, विरोध और संघर्ष से मुखरित हुआ है । इसलिए दलित साहित्य विद्रोही और क्रान्ति-धर्मी है । परन्तु यह विद्रोह नकारात्मक न होकर सर्जनात्मक है ।"[1]

इस प्रकार दलित कविता एक विचारधारा की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है यह यथार्थ जीवन की कविता है जो अंधकार से प्रकाश तक ले जाती है । मराठी दलित कहानियों के तहत बाबूराव बागुल की "जेव्हा मी जात चोरली होती" (जब मैंने जाति छिपाई थी) प्रथम दलित कहानी है। हालांकि अण्णाभाऊ साठे की 'स्मशानातले सोने' व शंकर राव खरात की "सांगावा" आदि कहानियां पहले रची गई पर दलित आत्मानुभूति का सामर्थ्य बागुल बाबूराव की "जब मैंने जाति छिपाई थी कहानी में प्राप्त है । खरात व साठे की या उनके पहले रचनाओं में दलितों के चित्र उभर कर आये पर आत्माभिव्यक्ति नहीं ।

केशव मेश्राम की हकीकत, जटायु (सुरचना), लखड़ आदि कहानियां दलित कहानी साहित्य की अमूल्य निधि है । "हकीकत" से अधिक "जटायु" एक यशस्वी कहानी है । श्री अर्जुन डांगले की "हो बाँधावरची माणसे, अंतहीन, एक प्रमुख कहानियाँ हैं । डांगले की कहानियाँ बाबूराव बागुल के बाद की उल्लेखनीय कहानियाँ हैं ।

---

1. दलित साहित्य चिन्तन के विविध आयाम : पृ.33

योगीराज वाघमारे को "उद्रेक", "माझाबाप", 'बेगड', 'बंड,' 'महार-मास्तर', 'नव्या सुभाचो शोधात',{बेगड कहानी में पलायनवादी वृत्ति है}। योगेन्द्र मेश्राम को 'रक्तालेलेलो लक्तेर' {रक्त लांछित चोथडे} 'सावधान', 'आक्रोश,' श्रीवामन होवाल को "बेनवाडा," "अंगारा", "मंजिल", वाला मकान,' अमिताभ को 'पड', "शिखाले को "कंड्स", "संक्रान्ति", "अजस्त्र", "हथियार", बंधुमाधव को "अंण माणुसको मेलो" {और इन्सानियत मर गई" महार बिरादरी में जन्म", "सारा आकाश फट चुका" , बनगांव, पुंडलिक घोमडे को "दुरावा", "गोपाल", "रेडगांवकराच्या मुडदे" {मुर्दे}, माधव कोंडविलकर को "मुक्त", "चिंध्या", अविनाश डोलस को "बलो" आदि कहानियां भी महत्वपूर्ण है ।

शंकरराव खरात मराठी के सशक्त कहानीकार हैं । उनकी "पग" "मेरा नाम" {माझा नाव} दौडो, भण्डारा, देवाचो कोप, घटना, आज "इथ तर उद्या तिथ", {आज इधर तो कल उधर} आदि प्रमुख रचनाएं हैं । इनके अलावा भास्कर चंदन शिव की "पानी" "स्मशान" प्रकाश खरात की "तडप" श्रीराम मुंदेकर की "अमानत" भी प्रमुख है । शंकरराव खरात का "बारा बलुतेदार भी प्रमुख कहानी संग्रह है ।

मराठी दलित उपन्यासों के तहत केशव मेश्राम का "पाखरण", भि·शि· शिंदे का "रायनाक", सुधाकर गायकवाड का 'शूद्र', सुधीर पवार का "अस्मिता", मुरलीधर भोसेकर का "सिद्धार्थायो यशोधरा", माधव कसबे का "नकुल", ना·ब· जाधव का "राजाभाऊ", अपर्णा, डा० अंजना निशिकान्त शेंडे का "कलंकमुक्तो", हरिभाऊ पगारे का "युगप्रर्वतक, हि·गो· बनसोडे का "मुक्तिसंग्राम", "उज्वला", ज·वि· पवार का "बलिदान" आदि प्रमुख उपन्यास हैं । डा० सदा कन्हाडे का "एक स्पृश्याची डायरी" {एक अस्पृश्य की डायरी} भी उल्लेखनीय उपन्यास हैं ।

मधु मंगेश कर्णिक की "देवकी" शोषक रचना उपन्यास नाटक दोनों दृष्टि से विचारणीय है । तेंडुलकर का "कमला" भी ऐसा ही उपन्यास है । आत्मकथाओं के तहत डा० अम्बेडकर की माझा आयुष्य, शंकरराव खरात की "पेटते पालिते", नामदेव ढसळकर की "कथा माझ्या जन्माची", केशव मेश्राम की "हकीकत", दयापवार की "कालजावरची रेघ", लक्ष्मण माने की "कातलखुणा", प्र·ई· सोनकांबळे की "जातीत हेवा दिवस", सौ कुसुम पाबळे की "माझ्या संस्कृतीची कथा", माधव कोंडविलकर की "कोंडी", उत्तमबंडू तुपे की "कादंबरीची वाटा", दादा साहेब मोरे की देवाचे खेळ, ना संझोडगे की अग्निलोळ, पार्थ पोळके की रंग भरणी, रूस्तम अंचलराव की "युद्ध", शरणकुमार लिंबाले की " का·पा· जन्म घालावे" आदि मराठी की सुप्रसिद्ध आत्मकथात्मक कृतियां हैं ।

मराठी दलित नाटक एकांकी लेखन के क्षेत्र में दत्ताभक्त का "आवर्त्त", प्रेमानन्द गजवी का 'घोटभरपाणी' व भि·शि· शिंदे का 'भिक्षुणी' 'वासवदत्ता' आदि प्रमुख रचनाएं हैं ।

स्पष्ट हो अम्बेडकर के समय ही "दलित नाटक" का बाजारीपण हो चुका था जिसमें तमाशा व जलसा जैसी रंगभूमियां लोकप्रिय रहीं । फूले रचित "तृतीय नेत्र" नाटक पहला दलित नाटक है । जिसमें संवाद एवं नाटकीयता का सम्पूर्ण समावेश है । समकालीनता की दृष्टि से रामनाथ चव्हाण का "साक्षी-पुरम", "पोतराज", अविनाश डोलस का "नाव नसलेला गांव" (बिना नाम का गांव), भि·रा· शिंदे का "अंधेरे के अंतरमन" आदि दलित नाटक उल्लेखनीय हैं ।

मराठी दलित पत्रिकाओं में "सारिका", "अस्मितादर्श", "आम्ही", "संचेतना", "विद्रोह", निकाय, मराठवाडा, प्रबुद्ध भारत, अस्तित्व आदि प्रमुख पत्रिकाएं हैं । गोपाल बाबा बंगलकर पहले दलित पत्रकार थे जिन्होंने शोषित-पीड़ित, दलित समाज की यातना और वेदना को साहित्य में स्थान दिया ।

मराठी में दलित साहित्य का सृजन निम्नवर्ग की सोच है । इसमें यथार्थ अनुभूति है न कि एक भ्रमात्मक या वाग्जाल या झूठी विचारधारा । यह सम्पूर्ण दलित वर्ग के हाड-मांस से निर्मित साहित्य है, जो दलितों द्वारा लिखित है । आरंभ में साहित्य को सांस्कृतिक - सामाजिक - साहित्यिक क्षेत्रों में नकारा गया । यह आन्दोलन एक ठोस ज़मीन पर से सक्रिय होकर विकास की ओर बढ़ा है ।

मराठी दलित साहित्य के समान ही हिन्दी में भी दलित साहित्य रचा जा रहा है । हिन्दी में दलित आन्दोलन उस रूप में अलग से नहीं चलाया गया है । पर यहां भी दलितों के [illegible] धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक प्रश्नों पर विचार होता रहा है । आज कई लोग दलित साहित्य का सृजन कर रहे हैं । समस्या इसे स्वीकारने की है।

हिन्दी में सरस्वती पत्रिका में 1914 में "हीरा डोम" की कविता "अछूत की शिकायत" छपी थी जो भोजपुरी भाषा में है । अन्य भाषाओं की तरह हिन्दी में भी दलित साहित्य का उद्भव कविता से हुआ । "अछूत की शिकायत" की कुछ पंक्तियां इस प्रकार है :-

"हमनी के इनरा के निगिचा ना जाइलेजा
पाके में भरी-भरी पीआतानी पानी
पनही से पिटि-पिटि हाथ गोड तुरि दइल
हमनी के इतनी काही के हलकानी" [1]

---

1. दलित साहित्य : चिन्तन के विविध आयाम : पृ. 27

हिन्दी दलित साहित्य की समृद्ध एवं लम्बी परम्परा रही है । यदि देखा जाए तो स्पष्ट होगा हिन्दी में मध्यकाल के 'सन्त साहित्य' में हिन्दी दलित चेतना का पहला विस्फोट हुआ । भक्तिकाल के दलित कवियों में कबीर, रैदास आदि प्रमुख हैं । रैदास पहले हिन्दी दलित कवि हैं । उन्हें दलित चेतना का पहला कवि भी माना जा सकता है । उन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था पर चोट की है । रैदास ने अपनी वाणी द्वारा स्वयं अपने पेशे व जाति का उल्लेख किया है । ये चमार जाति के थे :-

"कह रैदास खलास चमारा
जो हम सहरी सो मीत हमारा ।"[1]

रैदास ने मानवता का सिद्धान्त प्रतिपादित करने का प्रयास किया । वे अस्पृश्य-मुक्ति का प्रयास अपनी बानियों द्वारा करते हैं । क्योंकि उनके अनुसार इस संसार में न कोई छोटा है न बड़ा । फिर इन्सान को इन्सान ने ही छोटा बड़ा बनाया है :--

"रैदास एक ही नूर तो जिसि उपज्यो संसार
ऊँच-नीच किहि विध भए ब्राह्मण और चमार"[2]

रैदास ने दलित चेतना के जो बीज बोये थे उससे अम्बेडकर भी प्रभावित हुए । उनकी अनटेचबल्स (Untouchables) पुस्तक रैदास को समर्पित है ।

---

1. प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना : पृ. 59
2. दलित साहित्य : चिन्तन के विविधआयाम : पृ. 70

आधुनिक युग में जिस प्रकार मराठी में दलित साहित्य का प्रारंभ सन् साठ (60) में हुआ, उसी प्रकार हिन्दी में दलित - लेखन सन् 1954 में शुरू हुआ माना जाता है । हिन्दी के साठोत्तरी दलित कवियों में डा० मनोज सोनकर का "शोषित नामा", रामशिरोमणि होरिल का "करील के कांटे", व "जीवन-राम", डा० सुखवीर सिंह के "बयान बहार", अनंतर और सूर्यांश", डा० प्रेमशंकर की "नयी गंध", "और कविता", रोटी की भूख तक", डा० दयानन्द बटोही की "यातना की आंखें", डा० सुमनपाल सुमनाक्षर का "अंधा समाज बहरे लोग", डा० पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी की "सवालों का सूरज", "बिक चुका हो समय जब", डा० चन्द्रकुमार बरठे का "अधूरी चिट्ठी से रोशनी को", ओमप्रकाश वाल्मीकि का "सदियों का संताप", श्री लालचन्द राही का "मूक नहीं मेरी कविताएं", जयप्रकाश नवेन्द्र का "कविताएं 1991", लालित्य ललित का "गांव का खत शहर के नाम", हरिकिशन संतोषी का "कमलिनी" तथा "वीणा के नुपुर" और डा० एन.सिंह का "सतह से उठते हुए" व 'दर्द के दस्तावेज' आदि उल्लेखनीय हैं ।

वस्तुत: हिन्दी दलित कविता दलित-साहित्य में दलित कविता राष्ट्रीय फलक पर अपनी पहचान बना रही है । स्वामी अछूतानन्द, ओमप्रकाश वाल्मीकि, दयानन्द बटोही, मोहन दास नैमिशराय, डा० एन सिन्हा, आदि कुछ कवियों ने हिन्दी को दलित कविता को एक नया आयाम दिया । जिसमें दलितों की मुक्ति की कामना निहित है । इस दृष्टि से कुछ चुनिंदा दलित काव्य संग्रह है । (1) यातना की आंखें, (2) छोटे से फ्रेम में (विषम चक्रवर्ती) (3) दर्द के दस्तावेज (डा० एन सिंह) एकता के फूल आदि ।

हिन्दी में दलित कहानी साहित्य की दृष्टि से ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहन दास नैमिशराय, पुन्नीसिंह, गोपाल आवटे, रघुनाथ प्यासा, दयानन्द

बटोही, डा० पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, कालोचरण स्नेही, सूरजपाल चौहान, भागीरथ मेघवाल तथा कावेरी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं ।

स्पष्ट ही प्रेमचन्द की कहानियों में दरिद्रताजन्य महान वेदना के अजस्त्र स्त्रोत फूटते दिखाई देते हैं । "ठाकुर का कुआँ", "मन्दिर", "मंत्र", "आंसुओं की होली", 'सद्गति' आदि इस दृष्टि से उनकी उल्लेखनीय कहानियां हैं ।

प्रेमचन्द के बाद दलित चेतना की दृष्टि से यशपाल प्रमुख हैं । उनकी कहानियों में रूढ़िवादी संस्कारों, नैतिक जड़ीभूत मूल्यों का प्रतिरोध, आर्थिक विडम्बना आदि पर प्रकाश डाला गया है । उनकी "दु:खी-दु:खी, परदा, महादान" आदि कहानियां प्रमुख हैं ।

सातवें दशक में इसराइल की कहानी "अर्थहीन" प्रकाशित हुई जिसमें आर्थिक अभाव से ग्रस्त परिवार की समस्याओं को उभारने का प्रयास हुआ ।

आठवें दशक में आशीष सिन्हा की "आदमी", आलम शाह खान की "एक और सीता" मधुकर सिंह की "हरिजन सेवक", "दुश्मन", बलराम की कामरेड का सपना, रमेशचन्द्र शाह "अध्योया काण्ड", शशि प्रभा शास्त्री की "खाली झोली, भरे हाथ", अभय कुमार सिन्हा की "एक और अन्त", राम सुरेश की "शम्भू की कहानी", मधुकर गंगाधर की "उठे हुए हाथ", रघुनाथ प्यासा की "पन्ना धाय का दूसरा बेटा", नीमता सिंह की "ठहरा हुआ सवेरा", नरेन्द्र मौर्य की कनोज", रमाकान्त की "बयान", जगदीश दीक्षित की "सड़क", लक्ष्मीविलास डबराल की "बिच्छू घास" आदि उल्लेखनीय हैं ।

साथ ही आचार्य चतुरसेन शास्त्री की "मेहतर की बेटी का भात, पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" की समाज के चरन, राहुल सांस्कृत्यायन की "पुजारी", "सतमी के बच्चे", "प्रभा", "सुपर्ण" वाणेय, "सुमेर", उपेन्द्रनाथ "अश्क" की पिंजरा आदि भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं । ऐसे निराला की "चतुरी चमार" व "बिलेसुर बकरिहा" जैसी रचनाओं में भी दलित समुदाय की यातना की गहरी अभिव्यक्ति हुई है । ओमप्रकाश वाल्मीकि एक ऐसे दलित कथाकार हैं, जिन्होंने अपनी पहचान बनाई है। उनकी 'पच्चीस चौका डेढ़ सौ', 'सलाम', 'बैल की खाल' आदि काफी चर्चित कहानियाँ रही हैं ।

"सलाम" कहानी का कमल एक ब्राह्मण युवक है जो प्रगतिशील है । वह मित्र, जो जाति से चूहड़ है, के बारात में आता है । इस कारण उसे भी दलित मान लिया जाता है तथा उसे दुकानदार चाय देने से मना कर देता है । ओमप्रकाश वाल्मीकि एक सम्भावित कथाकार है । और उनकी कहानियाँ वर्ण और वर्ग की विडम्बनाओं से मुक्त हैं।

मोहनदास नैमिशराय एक प्रतिबद्ध दलित कथाकार है । इनकी कहानियाँ एक संघर्ष की आवाज देती है तथा सदियों से संतप्त दलितों को उठ खड़े होने की प्रेरणा देती है । उनकी "आवाजें" कहानी, जो "संचेतना" में प्रकाशित हुई थी, एक प्रमुख रचना है । इसके अलावा "बरसात", "अपना गाँव" आदि भी उनकी चर्चित कहानियाँ हैं ।

डा० दयानन्द बटोही की कहानी "कफन खोर" एवं "सुरंग" प्रमुख रचनाएं हैं । जिसमें दलितों को शिक्षा की जरूरत पर बल दिया गया है । विभांशु दयाल की कहानी "गंडास" व राजकुमार सिंह की "नम्बर" शीर्षक कहानी भी आक्रोश लिए हुए हैं ।

इसके साथ ही प्रहलाद चन्द दास को "लटको हुई शर्त", परदेशी राम वर्मा को "फांसी", जयप्रकाश कदर्म को "चमार", सूरजपाल चौहान को "साजिश", कावेरी को "सुमंगली", सुशीला टाकभौरे को "सिलिया", रमणिका गुप्ता को "बहु-जुठाई", भागीरथ मेघवाल को "सूरज की चिन्ता", लालचन्द राही को "पानीदार", "भ्रम", रत्न कुमार सांभारिया को "शर्त", गिरिराजशरण अग्रवाल को "अस्वीकृति", शत्रुघ्न सिंह को "अनाम", कृष्ण गोपाल को "छमिया", पारसनाथ को "छितनुआ", श्रवण कुमार को "धब्बा", विपिन बिहारी को "पहचान", राणा प्रताप को "अंतत:" , गुरूचरण सिंह को "काली सड़क", कुसुम वियोगी को "और वह पढ़ गई", गौरी शंकर नामदेश को "जंगल में आग", सी॰बी॰ भारती को "भूख", प्रेमकुमार मणि को "जुगाड", चन्द्रेश्वर कर्ण को "सुरंग" से गुजरते हुए", कमेन्दु को "शिशिर" आदि भी चर्चित दलित कहानियां हैं ।

दलित उपन्यासों की दृष्टि से प्रेमचन्द प्रथम भारतीय लेखक है, जिनकी कर्मभूमि, रंगभूमि, कायाकल्प और गोदान आदि उपन्यास बहुत हद तक दलित-जीवन का चित्रण प्रस्तुत करते हैं । वे अपने लेखन के माध्यम से रोटी-बेटी का सम्बन्ध सवर्णों व अवर्णों के बीच बनाने का प्रयास करते दिखाई देते हैं ।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के उपन्यास "निरूपमा" में जातिवाद जैसे असामाजिक तत्व पर आघात किया गया है । "कुल्लीभाट" में दलितोद्धार की समस्या को सामने रखा गया है ।

दलितों पर होने वाले अत्याचारों व उनकी मुक्ति हेतु जो उपन्यास हिन्दी में रचित हैं उनमें नागार्जुन का "दुखमोचन", रांगेय राघव का "कब तक पुकारूं" व 'सोधा रास्ता', फणीश्वरनाथ की 'परती परकथा', अमृतलाल का "नाच्यो बहुत गोपाला", हर्षनाथ की "करम और जगनी", यशदत्त शर्मा की "बदलती राहें" आदि प्रमुख कृतियां हैं ।

जगदीश चन्द्र रचित "धरतीन धन न अपना" उपन्यास दलितों की आर्थिक दशा को प्रस्तुत करता है जिसमें चमारों को कुछ भोकहना का अधिकार नहीं है । इस उपन्यास में "मेरो ओर से" सम्बोधन इस अनुभवों को उपज है । आठवें दशक के उपन्यासकारों में मधुकर सिंह का "सबसे बड़ा छल", "सोनभद्र को राधा", "जंगलो सुअर", "सोताराम", "नमस्कार", गोपाल उपाध्याय का "एक टुकड़ा इतिहास", दयाशंकर मिश्र का "छोटो बहु", ब्रज भूषण का "मंगलोदय", रामकुमार भ्रमर का "मोतिया", मन्नु भण्डारो का "महाभोज", भीष्म साहनो का "बसन्तो", गिरोराज किशोर का "यथा प्रस्थापित", यादवेन्द्र चन्द्र का "पत्थर का आंसू", भैरव प्रसाद का सत्तो "भइया का चोरा" आदि महत्वपूर्ण कृतियां हैं ।

हाल हो में प्रकाशित जयप्रकाश कर्दम का "छप्पर" शोर्षक उपन्यास इस दृष्टिकोण से उल्लेखनोय है । जिसमें शिक्षा प्राप्त करने के लिए चन्दन को संघर्ष करना पड़ता है । सत्य हो उसके मां व बाप को अनेक अत्याचार व यातनाएं सहनो पड़तो हैं । इस उपन्यास में दलित जोवन के हर पहलू का चित्रण किया गया है ।" डा० एन• सिंह के अनुसार यह पहला दलित उपन्यास है ।"[1]

हिन्दो में दलित सवालों को लेकर नाटक भो लिखे गये हैं । इस दृष्टि से एन•आर• सागर का "मार्ग का कांटा" और शुल्क इन्द्र देव वारिसपुरो का नाटक "भगवान रविदास चरित नाटक", श्री एल•एल• धर्मरत्न का "अछूत का प्यार", डा० एन• सिंह का "कठौतो में गंगा" आदि प्रमुख नाट्य कृतियां हैं । हिन्दो दलित आत्मकथाओं में मोहनदास नैमिशराय की कृति "अपने-अपने पिंजरे" तथा ओमप्रकाश वाल्मीकि की "जूठन" काफो चर्चित रहो हैं ।

- -

।• दलित चेतना : साहित्य : पृ• 47

मराठी से हिन्दी में आत्मकथाओं का काफी अनुवाद हुआ । जिसमें सर्वप्रथम "बलुत" (दयापावर) का हिन्दी में "अछूत" नाम से अनुवाद हुआ । उसी प्रकार ओपरा (उपरा), पादों के पंछी (आठवणीचे पक्षी), तरल - अन्तराल (तराल), अक्करमाशी (अक्करमाशी) आदि मराठी से हिन्दी में अनूदित महत्वपूर्ण आत्मकथाएं हैं ।

2•3 सवर्ण लेखन बनाम दलित लेखन :

दलित साहित्य का निर्माण आज के सन्दर्भ में सुचारू रूप से हो रहा है । दलित साहित्य के तहत दो प्रकार की कृतियां दिखाई देती हैं एक जो दलित वर्ग द्वारा लिखित है तो दूसरी गैर दलितों द्वारा लिखित । आज दलित साहित्य में गैर दलितों द्वारा लिखित साहित्य काफी मात्रा में है ।

प्रश्न यह उठता है कि गैर दलितों द्वारा रचित साहित्य क्या दलित साहित्य है ? या दलितों द्वारा लिखित साहित्य ही दलित साहित्य है ।

वैसे अधिकतर विद्वानों का मत यही है कि दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है क्योंकि यदि गैर दलित दलितों को लेकर कुछ लिखता है तो उसमें मात्र उनके प्रति सहानुभूति होती है, उत्पीड़न या आक्रोश नहीं ।

दलित साहित्यकों के अनुसार "दलित साहित्य दलित अनुभवों का अमूल्य निधि है । दलित अनुभवों की सारी दृष्टि एवं सृष्टि उनके इस साहित्य में समाविष्ट हुई है यह उनका सार सर्वस्व बना हुआ है । दलितपन ने जो देखा-सोचा जाना, इस मन ने जो भोगा, अनुभव किया उस सबका कभी उत्कटता से,

तो कभी कोमलता से इस साहित्य में अंकन हुआ है । अत: साहित्य दलित समाज के समूहपन का दर्पण है । दलित साहित्य आज के दलित मन का आलेख, दस्तावेज, हथियार, गाथा का प्रतीक बना हुआ है । इस पर अन्य किसी का अधिकार स्थापित न होने देने के लिए यह साहित्य विशेष रूप से जागरूक है ।"[1]

स्पष्ट हो एक दूसरा वर्ग उन दलितेतर जातियों का है, जिन्होंने अस्पृश्यता को मार झेली नहीं परन्तु इसे करीब से देखा है, उनकी संवेदना आहत हुई है तथा इसके चलते उन्होंने अपने रचना-कर्म को बढ़ावा दिया । प्रेमचन्द दलित जाति के यानी अछूत नहीं थे, किन्तु उनकी "सद्गति" और "ठाकुर का कुआँ" जैसी कहानियां हिन्दी साहित्य में दलित चेतना के उन्मेष की प्रथम दस्तक है । उनकी ये कहानियाँ जहाँ दलित जातियों के सामाजिक स्थितियों को माप करती है, वहीं अपनी कलात्मकता को भी सुरक्षितरखती है ।अत: सिर्फ दलितों द्वारा लिखे गये साहित्य को दलित साहित्य कहना दलित साहित्य की अवधारणाको सीमित करना है । साहित्यकारों की कोई जाति नहीं होती । एक संवेदनशील रचनाकार किनारे बैठकर भी डूबने वाले की पीड़ा की अनुभूति कर सकता है । संवेदनशीलता और रचनात्मकता से रहित दलित भी सर्जना नहीं कर सकता ।"[2]

इस संदर्भ में हेतु भारद्वाज ने सवाल उठाया है कि "दलितों कीपीड़ा की सच्ची अभिव्यक्ति केवल दलित लेखक दे सकता है ? प्रेमचन्द या निराला जैसे लोग तो दलितों के प्रति सहज सहानुभूति प्रदर्शित करने वाली रचनाएं ही दे सके । क्या आप इस तर्क से सहमत है कि प्रेमचन्द की "कफन" कहानी है ?

---

1. साहित्य और दलित चेतना : पृ. 70
2. कथ्यरूप : (अप्रैल - जून -1996) : पृ. 23

जो लोग दलित साहित्य का झण्डा उठा रहे हैं, उनके यहाँ रैदास जैसे सन्तों के साहित्य के लिए कितनी गुंजाइश है । ओमप्रकाश वाल्मीकि शरण लिंबाले आदि की रचनाओं में आपको जो मानवीय सच नजर आता है, वह क्या प्रेमचन्द या निराला की रचनाओं में नहीं है ?"[1]

हेतु भारद्वाज ने स्वयं इस बात का उल्लेख किया है कि जब वे दलितों का साथ देने लगे तो उनके पिता को अनेक प्रकार की यातनाएं सहनी पड़ी । यहाँ तक कि उन्हें अलग से कुआँ भी बनाना पड़ा । लेखक के पिता को ही जब इतना कष्ट झेलना पड़ा, तो कल्पना कीजिए उन दलितों की जिन्हें सदियों से शोषण की चक्की में पीसा गया । कितने ही कष्ट झेले उन्होंने । ब्राह्मण वर्ग ने ब्राह्मण के साथ जब दुर्व्यवहार किया तो, दलितों की दयनीय स्थिति का अंदाजा अपने-आप हो जाता है, क्योंकि वे दलित वर्ग में पैदा हुए हैं। स्पष्ट ही "कफन" कहानी में आर्थिकता व सामाजिकता का प्रबल स्वर है । पर शरण कुमार लिंबाले व ओमप्रकाश वाल्मीकि ने तो स्वयं भोगा व लिखा है । वे आज भी भोग रहे हैं । इस सन्दर्भ में सदा कराडे लिखते हैं कि "दलित साहित्य वेदना व यातना का साहित्य है । जातिनिष्ठा व्यवस्था में अस्पृश्यों को और पद्दलितों को जो भोगना पड़ा, उस भोगने में से जो व्यथा, वेदना यातना और तात्पर्य अनुभव इनके यथार्थ दर्शन तक ही दलित साहित्य के अनुभव विषय और अन्याय सीमित हैं । ये अनुभव विषय और सीमित हैं । ये अनुभव दलित लेखकों का अपना सम:दुखी - समपीड़ित जाति बान्धवों अनुभव है । अत: स्वाभाविक रूप से उस अभिव्यक्ति में आत्मपरकता है । दलित साहित्यकार अपनी साहित्य-कृति में से जो अनुभव सहित स्वत: को प्रकट करने का प्रयास करता है । सवर्ण हिन्दू लेखक अथवा अन्य मध्यवर्गीय लेखक यह नहीं कर सकता । क्योंकि दलितों से सम्बन्धित उसका लेखन सहानुभूति का रहेगा, जबकि दलितों का लेखन अनुभूति का है ।"[2]

---

1. हंस (पत्रिका मार्च - 1998) : पृ. 35
2. साहित्य और दलित चेतना : पृ. 117

अत: जितनी गहरी संवेदना दलित लेखकों की अभिव्यक्ति में होगी, उतनी अभिव्यक्ति की संवेदना का स्तर गैर दलितों में नहीं हो सकती ।

गैर दलितों द्वारा लिखित साहित्य में प्रेमचन्द, निराला, राहुल-सांकृत्यायन, डा० रामकुमार वर्मा, डा० जगदीश गुप्त, नवीन, दिनकर, नागार्जुन, त्रिलोचन, रांगेय राघव आदि द्वारा रचित साहित्य उल्लेखनीय है । यह सब दलित जाति के नहीं है पर उन्होंने दलितों के सन्दर्भ में रचनाएं लिखी है ।

डा० सोहनपाल सुमनाक्षर का कहना है कि "दलित साहित्य लेखक की कुछ सीमाएं व मर्यादाएं हैं जिनका दलित साहित्यकार को ध्यान रखना आवश्यक है । प्राय: कहा जाता है कि दलित साहित्य, दलितों के उत्थान, विकास के लिए लिखा गया वह साहित्य है जो दलितों द्वारा दलितों के लिए लिखा गया हो। यहां दलितोत्थान मूल आधार है अत: किसी भी साहित्यकार द्वारा दलितोत्थान हेतु लिखा साहित्य दलित साहित्य की सीमा में आता है ।"[1]

पर मोहनदास नैमिशराय का मानना है कि "दूर बैठकर कल्पना के आधार पर दलितों की पीड़ा के वर्णन को दलित साहित्य कहना न्याय संगत नहीं है, यह बिलकुल ऐसे ही होगा, जैसे दलित शोषितों को दूर से फेंक कर रोटी दान करेगा· · · · जबकि ···· दलित वर्ग से आए लेखकों ने जो लिखा उनकी रचनाओं में अथाह पीड़ा रही, आक्रोश का ज्वार बार-बार उफनता रहा, इसलिए कि वे सामाजिक अन्याय के भुक्तभोगी थे ।"[2]

- -

1· कथ्य रूप = पृ· 24

2· दलित साहित्य चिन्तन के विविध आयाम : पृ· 13

इस प्रकार जो वेदना दलितों को मिली, जो शोषण, मात्र उन्होंने देखा नहीं है बल्कि भोगा व सहा है, उस यंत्रणा के द्वारा जो चीख निकली वह साहित्य के रूप में प्रकट हुई, अर्थात् जो दलितों ने भोगा है वहउन्होंने अपनी कलम द्वारा लिखा । न इसमें कल्पना है, न मिथ्या । यंत्रणा को भोग कर उन्होंने लिखा है । गैर दलितों ने मात्र चीख सुनी व उस चीख को साहित्य में उजागर किया ।

मोहनदास नैमिशराय नामवर सिंह के हवाले से कहते हैं: । "साहित्य में कभी कोई साहित्यकार अकेला नहीं आता है । उसके साथ उसकी पूरी दुनिया आती है, पूरी जिन्दगी आती है, नया यथार्थ आता है । यही स्थिति दलित साहित्य में भी है । जब कोई दलित साहित्यकार साहित्य में प्रवेश करता है तो उसके साथ भी उसकी दुनिया आती है उसकी पीढ़ी आती है उसका परिवेश आता है यह सब सामान्य साहित्यकार से भिन्न होता है उसे भिन्न होना ही चाहिए । प्रेमचन्द का साहित्य दलित साहित्य के समकक्ष रखकर देखें तो यह अन्तर स्पष्ट होता है । "इन्तजार हुसेन" में जो बंटवारे का दर्द है वह "तमस" और "झूठा सच" में नहीं है, नारायण सुर्वे के काव्य में जो चिनगारी है, वह अन्यत्र कम मिलनी मुश्किल है ।"[1]

हालांकि गैर दलितों का दलितों के बारे में लिखा गया साहित्य अधिक है । आज स्थिति दूसरी है । आज कई दलित लेखक अपनी व्यथा, वेदना को अपनी लेखनी द्वारा प्रकट कर रहे हैं ।

डा० मैनेजर पाण्डेय का इस बारे में कहना है कि जब तक अपने बारे में लिखे हुए, दलितों के साहित्य का पर्याप्त विकास नहीं होता, तब तक गैर दलितों

---

1. दलित साहित्य : चिन्तन के विविध आयाम : पृ. 75

द्वारा दलितों के बारे में लिखे गये साहित्य को भले ही दलित साहित्य कहा जाय लेकिन लेकिन सच्चा दलित साहित्य, वही होगा जो दलितों के बारे में स्वयं दलित लिखेंगे । जब अपने समुदाय के जीवन के यथार्थ और अनुभवों के बारे में कोई दलित लिखता है तब उसकी दृष्टि में तो आग, चित्रों में जो आग और भाषा में जो ऊर्जा होती है, वह गैर दलितों द्वारा दलितों के बारे में लिखे गए साहित्य में नहीं होती है । दलित जीवन के अनुभव में कुछ ऐसे पक्ष होते हैं जो जाति सापेक्ष होते हैं । और केवल इन्हीं के द्वारा अनुभूत किये जा सकते हैं । ऐसे अनुभवों का प्रामाणिक चित्रण कोई गैर दलित लेखक वैसे नहीं कर सकता, जैसे स्त्री के जीवन के अनेक स्त्रियोचित अनुभवों को अभिव्यक्ति पुरूष नहीं कर सकता। प्रसंगवश ज्योतिबा फुले का कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि गुलामों की यातना को, जो सहता है वही जानता है कि और जो जानता है वही पूरा सच कह सकता है । सचमुच राख ही जानती है ।जलने का अनुभव, कोई और नहीं ।"[1]

शरण कुमार लिंबाले ने इस मुद्दे पर साफ लिखा है कि "गैर दलितों के लेखन में सहानुभूति और दया का दृष्टिकोण होता है, हमें सहानुभूति और दया का दृष्टिकोण से नफ़रत है । यह दृष्टिकोण हमारे सदियों के संताप को नजर-अंदाज करता है । हमें यह सफेदपोश गुण्डा लगता है । गैर दलितों के साहित्य को दलित साहित्य कहना साहित्यिक सांस्कृतिक छल और हेरा-फेरी है । यह बात मैं गैर दलितों के सन्दर्भ में कर रहा हूँ ।"[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि दलितोत्थान हेतु साहित्य ही सच्चा दलित साहित्य है । क्योंकि जो कष्ट उन्होंने सहे, जिन अमानुषिक अत्याचारों से वह पीड़ित थे, उस पीड़ा को वे ही अभिव्यक्ति दे सकते हैं । गैर दलितों को दलितों की पीड़ा भयावह लग सकती है, पर कल्पना के आधार पर ।

---

1. दलित चेतना : साहित्य : पृ. 5
2. हंस पत्रिका (दिसम्बर 1995) : पृ. 33

2•4 दलित आत्मकथा लेखन :

"आत्मनः विषये कथ्यते यस्यां सा आत्मकथा" अर्थात् जहाँ अपने ही विषय में कहा जाए वही आत्मकथा है । जिसमें लेखक अनुभवों को अपना कर अंतर्मुखी हो जाता है । आत्मकथा के लिए आत्मचरित्र, आत्मजीवनी, अपनी कहानी, आत्मवृत्त, मेरी कहानी, आदि शीर्षकों का उपयोग किया जाता है । परन्तु "हिन्दी समीक्षकों और कोशकारों ने 'आत्मकथा' शब्द का ही व्यवहार सर्वाधिक किया है ।"[1]

"आत्मकथा" के लिए अंग्रेजी में ऑटोबायोग्राफी शब्द प्रयुक्त हुआ है । अंग्रेजी के प्रयत्न का परोक्ष प्रभाव के कारण ही हिन्दी में इस विधा का उदय हुआ है ।

आत्मकथा की समन्वित परिभाषा इस प्रकार है कि :- "रागात्मक गद्य साहित्य की वह माध्यम - निरपेक्ष, आत्मोन्मुख , अनुभूति प्रवण, तथ्याश्रित, स्मृत्यवलम्बित, सुसम्बद्ध कथात्मक, चरित्र प्रधान - विधा आत्मकथा कहलाती है, जिसमें लेखक ने अपनी मानसिक प्रौढ़ावस्था में अतीत की अनुभूतियों, संवेदनाओं, भावनाओं, संस्मृतियों, उद्भावनाओं और मानस-स्वप्नों के साथ-साथ मुक्त यथार्थों तथा आत्मसात की हुई बाह्य पर्यावरण की समस्त संस्थितियों-परिस्थितियों को अपने अवचेतन के अध्ययन, विश्लेषण, दर्शन, उन्नयन, समर्थन, परिष्करण या अन्वेषणादि हेतु पूर्ण कलात्मक रीति से इस प्रकार चित्रित किया हो कि व्यष्टि का विशिष्ट बोध चिरन्तर मानव-सम्बन्धों से एकाकार हो ।"[2]

आत्मकथा के तत्वों में गुण - वर्ण्य विषय, पात्र, आत्मेतर पात्र, उद्देश्य, देशकाल, संवाद, भाषा शैली आदि प्रमुख वर्ण्य विषय के तहत

1• हिन्दी का आत्मकथा साहित्य : पृ• 17

2• हिन्दी का आत्मकथा साहित्य : पृ• 27

सत्यकथन, वैयक्तिकता और यथार्थानुभूति की अनिवार्यता, एक सूत्रता आदि का महत्व है ।

पात्र चित्रण में आत्मनिरीक्षण , मान-मस्तिष्क, विश्लेषण, अतीत पुनर्प्रत्यक्षीकरण, यथार्थ की भूमि पर प्रस्तुतीकरण होता है । आत्मेत्तर पात्रों की उपस्थिति केवल वस्तुस्थिति व अनिवार्यता की अपेक्षा भी वांछनीय होती है ।

उद्देश्य के तहत चिरन्तता, मानवीयता एवं मानसिक बौद्धिक आदि गुण आवश्यक है । देशकाल के तहत प्राकृतिक वर्णन की अपेक्षा राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना के अन्तर्द्वन्द्व के प्रकटीकरण द्वारा सूक्ष्म मनोविश्लेषण का होना सहज अपेक्षित है ।

भाषा शैली की दृष्टि से आत्मकथा में सहजता स्वाभाविकता न अनौपचारिकता वांछनीय है । भावुकतापूर्ण या बौद्धिकतापूर्ण सुसंस्कृत या सरल सहज, व्याख्यात्मक या विश्लेषणात्मक होना वस्तुस्थिति या वर्ण्य विषय पर निर्भर करता है ।

आत्मकथा एक ऐसी विधा है जो सत्य को उजागर करती है । इसलिए आत्मकथाकार में कुछ गुण होना आवश्यक है । जैसे :-

(क) आत्मकथा निरीक्षण का सामर्थ्य
(ख) प्रदर्शन के मोह का अभाव
(ग) विविध विषयों का निष्पक्ष प्रतिपादन-निरूपण
(घ) अपने ही दोषों को उजागर व स्पष्ट करने का साहस ।
(ङ) सभ्यता और सौजन्य की सीमाओं का आदर और पालन

§च§ सत्य मे अविचल निष्ठा

§छ§ अपनी सूक्ष्मता सुसंबद्धता औचित्य और रमणीयता के प्रति सतर्कता से आत्मकथा को साहित्य को दृष्टि से सुन्दर बना डालने को योग्यता ।*¹

हिन्दो मे पहलो आत्मकथा बनारसीदास जैन को "अर्द्धकथानक" §1614 ई§ मानो जाती है । पर यह 300 वर्ष तक अप्रकाशित रहो । इसके बाद स्वामी दयानन्द को आत्मकथा 19वीं शताब्दी के अन्त में दो खण्डों में प्रकाशित हुई । जो आत्मकथा विधा के प्रवर्तक भी है । इसके बाद कई आत्मकथाओं का सृजन हुआ । स्पष्ट हो 17वीं शताब्दी में बनारसीदास जैन को आत्मकथा §अर्द्ध-कथानक§के बाद सदियों तक इस प्रवृत्ति का अनुवर्तन नहीं हुआ । पर सन् 1875 से सन् 1981 तक यह प्रवाह गतिमान रहा । इस काल में अनेक आत्मकथाओं का सृजन होने लगा । जिस प्रकार द्विवेदी युग व भारतेन्दु युग ने खड़ी बोली व गद्य को सबल प्रदान किया, प्रेमचन्द ने 1932 में "हंस" में दो लघु आत्मकथाओं द्वारा वैसा ही प्रयत्न किया । इस प्रकार आत्मकथाओं का सृजन होने लगा आज कई आत्मकथाओं का सृजन व प्रकाशन हो चुका है । मराठी में आत्मकथा साहित्य को एक लम्बी परम्परा रही है । हिन्दी में आत्मकथा को तरह हो मराठी में आत्मकथा या आत्मचरित्र नाम प्रचारित है ।

मराठी में पहलो आत्मकथाओं के सन्दर्भ में 19वीं शती को दो आत्मकथाओं कानाम लिया जाता है जिसमें "आत्मचरित्र" व "अरूणोदय" उर्फ स्वतः स्वलिखित चरित्र महत्वपूर्ण है ।

---

1. मराठी भाषा और साहित्य : पृ. 84-85

स्पष्ट है कि मराठी साहित्य में दलित साहित्य का सृजन पहले हुआ । अत: आत्मकथाओं का सृजन भी पहले मराठी में ही हुआ । हालांकि मराठी से हिन्दी में अनुवाद काफी हुआ ।

मराठी दलित साहित्यकारों में डा० अम्बेडकर की आत्मकथा "माझी आत्मकथा", माधव कोंडविलकर का "मुक्काम पोस्ट देवाचे गोठणे", दया पवार की "बलुत", शंकरराव खरात की "तराल -अन्तराल", राजण कुमार लिंबाले की "अक्करमाशी", सोन कांबले की "आठवणींचे पक्षी", लक्ष्मण गायकवाड की "उचल्या", लक्ष्मणमाने की "उपरा" बेबी कांबळे की "जिण आमुचं", वैजनाथ कलसे की "आघरणोच्या घणा" उत्तमबंडू तुपे की "कायावरची पोट" दादा साहेब मल्हारी मोरे की "गवाला" आदि मराठी दलित आत्मकथाएं हैं । हिन्दी की दलित आत्मकथाओं में पहले "मोहन दास नैमिशराय की "अपने अपने पिंजरे" तथा ओमप्रकाश वाल्मीकि की "जूठन" प्रकाशित हुई है । साथ डा० धर्मवीर की भी आत्मकथा शीघ्र प्रकाश्य है । हिन्दी में अधिकतर अनूदित दलित आत्मकथाएं ही प्राप्त होती हैं । "माझी आत्मकथा" में डा० अम्बेडकर ने अपने जीवनानुभव को लिखा है । बचपन में उन्होंने जो वेदना सही, यहां तक की शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्हें काफी कठिनाईयों का सामना करना पड़ा , उन सबका इसमें उल्लेख है ।

दलितों को सामाजिक सन्दर्भ में जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उन सबका विवेचन हर आत्मकथा में मिलता है । न केवल सामाजिक बल्कि शैक्षणिक, आर्थिक व सांस्कृतिक कठिनाइयों का चित्रण भी वहां है ।

सामाजिक विषमता के सन्दर्भ सोनकांबडे के "तराल-अन्तराल" के काफी प्रसिद्ध आत्मकथा है । इसका सृजन 1981 में हुआ । इसमें तीन भाग हैं पहले भाग

में गाँव से सम्बन्धित वातावरण, उनकी जाति की बस्ती स्कूल के शिक्षक, उत्सव आदि का उल्लेख है, तो साथ ही गांधीवादी सुधार, अम्बेडकर के विचार आदि भी वहां हैं । तीसरे भाग में एल॰एल॰बी॰ की शिक्षा, शादी व उनके वकील बनने तक के सफर के बारे में उल्लेख है । इसमें ब्राह्मण, मराठा आदि की जातिवादी मानसिकता का पर्दाफाश है ।

लेखक के अनुसार चूंकि हिन्दू समाज-व्यवस्था में सवर्ण को ऊंचा माना जाता है, इसलिए महार जाति के लोगों को अलग बस्ती गाँव से दूर बनायी गयी थी । साथ ही महार जाति के लोगों को इनके गाँवों में आने का अधिकार नहीं था। भगवान के दर्शन इन्हें बाहर से करने पड़ते थे । मंदिर के आंगण में कक्षा ली जाती थी । लेखक को देखकर सवर्ण लड़के चिढ़ जाते थे । यहां तक ब्राह्मण शिक्षक भी उन्हें मारने से चूकते नहीं थे । शादी ब्याह के अवसर पर (पाटील के) उन्हें कुत्तों के स्थान बैठना पड़ता था । खाना आधीरात को मिल पाता । कॉलेज में भी यही व्यवस्था थी । ब्राह्मण वर्ग के हाथों में खाना बनाना तथा परोसना था । ब्राह्मण जब मराठों को ही छूने से डरते थे, तो महार की बात ही क्या ?

दयापवार कृत बलुत (अछूत) आत्मकथा सन् १९९७ में प्रकाशित हुई । पवार का गाँव अकोला के धामण गाँव तालुका में है, पर दूसरी कक्षा के बाद का जीवन मुंबई के काबाखान्या के छात्रावास में गुजरा । मां, पिता, काकी और भैय्या के परिचय में ही बम्बई का उल्लेख समाप्त होता है । बाद में सभी गाँव जाते हैं । मां बड़े कष्टों से लेखक को पढ़ाती है । इस सन्दर्भ में अनेक प्रथा, मित्र सटवा, नाना , आदि पात्र का सन्दर्भ तथा तालुका गाँव के छात्रावास व स्कूल के शिक्षक, सवर्ण मित्र, मां की छात्रावास की नौकरी, गाँव वालों का

का परिचय, मास्टर कुलकर्णी, शादी, पत्नी पर शक, दलितों का राजकीय सहभाग आदि का अनुभूति प्रवण उल्लेख वहां है ।

दया पवार जैसे-जैसे बड़े होते हैं वैसे ही अपने समाज से दूर होते जाते हैं । एक तो वातावरण की तबदीली, दूसरा शिक्षा के विकास के कारण । फिर भी लेखक के अपने समाज से दूर हो जाने की विडम्बना व दु:ख होता है । इसलिए "बलुत" आत्मकथा एक संवेदनशील व्यक्ति की कथा है ।

समाज से दूर होकर एकाकीपन का दु:ख उन्हें कटोचता है । फिर भी वे हर समय संयम धारण किए रहते हैं । इस सन्दर्भ बाल कृष्ण कवेठकर का कथन है कि "अनेक, दरिद्र, दु:खी, पीड़ित, मनुष्य का चित्रण "बलुत" में आता है । या इसे ऐसा भी कहा जा सकता है कि व्यक्ति के द्वारा होजीवन के ओर जाने की पद्धत्ति पवार की है पर भी कई व्यक्तियों के चित्रण के द्वारा ही "बलुत" के जीवन दर्शन का चित्रण किया गया है ।"[1]

लक्ष्मण माने की आत्मकथा "उपरा" 1970 में प्रकाशित हुई है । लेखक का कैकाड़ी जाति के "विनभिकार" उपजाति में जन्म हुआ । कैकड़ी जाति के लोग कचरा कुण्डी पर जीते हैं, इनका न घर है न, आर्थिक स्थिति अच्छी है । सामाजिक प्रतिष्ठा तो दूर सामाजिक स्थान भी नहीं है । घुम्मकड़ जाति थी, काम करने के लिए इधर-उधर भटकना पड़ता था । इस कारण जब लेखक स्कूल जाते हैं, तब उन्हें कोई स्पर्श नहीं करता था, न ही साथ ही खेलने देता था ।

सन् 1969 में प्रकाशित "आठवणीचे पक्षी" शीर्षक आत्मकथा सोनकांबले द्वारा रचित है ।

---

1. दलित साहित्य एक आकलन : पृ. 83

अस्पृश्यता का कलंक सोनकांबले को जन्म से भोगना पड़ता है । जाति-भेद के कारण इन्हें विषमता तो भोगनी पड़ी । साथ ही मां व पिता के मर जाने के कारण जो कठिनाइयां उन्हें उठानी पड़ी है वह भी दयनीय है । जहां भैंसे बैठती, उस पानी से स्नान करना, जिस पानी में गाय भैंस पानी पीती थी, वही पानी पीना - वह भी गालियां खा कर । लेखक को न किसी से द्वेष है न राग । वे मात्र अपने गतजीवन को साक्षी भाव से देखते हैं और उसका मूल्यांकन करते हैं ।

उन्होंने उन लोगों का वर्णन किया है जिन्होंने उन्हें दु:ख दिया या सताया, पर लेखक को उन लोगों के प्रति कोई द्वेष नहीं है ।

लक्ष्मण गायकवाड कृत "उचल्या" (उठाईगिरी) का सृजन 1987 में हुआ । इस कृति में स्त्रीयों पर अत्याचार एवं पुलिस की अमानुषिकता आदि का वर्णन हृदय को विचलित कर देता है । आर्थिक तंगी के कारण लेखक को कालेज की शिक्षा ही नहीं पाती है । अन्त में कार्यकर्त्ता के रूप में वह उभरता है ।

अंत में लेखक राजनीतिक कार्यकर्ता बन जाता है । उनका वक्तव्य रेखांकनीय है कि "मेरे मां-बाप, भाई पेट भरने हेतु उठाईगिरी करते हुए निरन्तर भटकते रहे । उन्हीं में से एक मैं आज समाज व्यवस्था के परिवर्तन के लिए न्याय, अधिकार और समता की स्थापना के लिए राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलन करते हुए भटक रहा हूं ।"[1]

"जिण आमुच" भी मराठी की प्रसिद्ध आत्मकथा है जो 1987 में बेबी कांबले द्वारा रचित है । यह दलित स्त्री द्वारा रचित पहला आत्मचरित्र है ।

---

1. उठाईगिरी : पृ. 17।

यह आत्मकथा उनकी बाल्यवस्था की यादों व अम्बेडकर के विचारों का अनुक्रमण है । यह व्यक्ति केन्द्रित न होकर समाज शास्त्रीय लेख के समान है ।

इसमें लेखिका का पुर्नजन्म, महार का घर, पोतराज देवी देवता का वर्णन अन्त में महार का जीवन सन्दर्भ आदि आता है । दूसरे प्रकरण में महार की पत्नीयों, बच्चे के समान, पोतराज का वर्णन आदि आता है । व्यक्ति के शरीर में देवी का आना अमावस्था की रेंड यात्रा, पशु बलि, हिन्दु धर्म पर कटाक्ष आदि का वर्णन है । एक तरह से यह विसंगतिपूर्ण समाज का वर्णन है । इस आत्मकथा में डा० अम्बेडकर के विचार जगह-जगह पर अनुस्यूत हैं ।

लेखिका के अनुसार दलित स्त्रियां किनारेदार साड़ी नहीं पहन सकती थी । क्योंकि वैसी साड़ी पटेल की स्त्रीयां पहनती थी । उन्हें दरवाजे के पास खड़े होकर भीख मांगना पड़ता था । झुक कर खड़े रहना, छोटे से सवर्ण बच्चों को भी झुक कर "सलाम मायबाप" कहना पड़ता था । इनकी कीमत घोड़ों से भी गयी गुजरी थी, क्योंकि इन्हें इनके घोड़ों की घण्टी बजाते रहना पड़ता था ।

इस तरह देखा जाए तो दलित स्त्रियों का जितना सूक्ष्म विवेचन लेखिका ने सामाजिक अंतरंग व स्वरूप/ खास कर स्त्री जीवन के सन्दर्भ में किया है । शायद ही किसी आत्मकथा में किया गयाहो ।

हिन्दी में दलित आत्मकथाएं कम लिखी गई हैं । पहली आत्मकथा "अपने-अपने पिंजरे" है । "जूठन" हिन्दी की दूसरी दलित आत्मकथा है ।

"अपने-अपने पिंजरे" मोहनदास नैमिशराय द्वारा रचित है । इसमें लेखक को सवर्णों व मुसलमानों द्वारा दी गई प्रताड़नाओं को उजागर किया है ।

चमार जाति में पैदा होने के कारण हर कोई उन्हें चमार के नाम से पुकारता था । यहां तक कि इनको बस्तो का नाम भो "चमारगेट" या "चमार दरवाजा" था ।

लेखक के शब्दों में "पोढ़ी-दर-पोढ़ो हम गुलाम थे । इधर मां बच्चा जनतो और उधर पैदा होने वाले बच्चे के माथे पर उनको जात लिख दो जातो । उसे उसको जात का पहचान रू-ब-रू करा दिया जाता ।"[1]

स्कूलों में भो गुरुजो दलितों को "चमार का" कहकर पुकारते थे । मां के न होने के कारण लेखक को ताई ने गोद लिया । इनको जाति का काम चप्पल बनाना था ।

मुसलमान भो इन पर अपना रोब छाठते थे । वे दलित औरतों को अपमानित या जलोल करते थे । यहां तक कि उनके बच्चे क भो अपमान करते थे । इस तरह का अपमान लेखक को बुरा लगता पर विवशता थों ।

लेखक के शब्दों में "हजारों वर्षों से टूटने-बिखरने का यहो क्रम चलता रहा । बस्तियों से उजड़ कर मैदान, खेत, पहाड़, सड़क फुटपाथ और न जाने कहां-कहां हम पसरे । हमने आसरा ढूंढा । पोढ़ - दर-पोढ़ो दुख सहने को प्रक्रिया से हम दास बनते गये । हमारोगिनतो गुलामों में को जाने लगो । वे मालिक बन बैठे । हमारो औरतें उनको रखैल बनो । हम अपनो औरतों से कटते गये । परिवार बिखरता गया ।"[2]

---

1. अपने-अपने पिंजरे : पृ. 17
2. अपने-अपने पिंजरे : पृ. 18

मोहनदास इस कृति में अपने परिवेश, सामाजिकता, धार्मिकता आदि का वर्णन करते हैं । चमारों को मंदिर में जाने का हक नहीं, ~~क्योंकि~~सवर्णों ने ~~लक्ष्मण रेखा सी बीच में जाने का हक नहीं~~, क्योंकि सवर्णों ने लक्ष्मण रेखा-सी बीच में खींच दी थी । मुसलमान व हिन्दू दोनों अपने-अपने स्थान पर थे पर बीच में यह दलित । हिन्दू इन्हें अपमानित करनेमें से चूकते नहीं थे । इसी प्रकार जब दंगे होते तो मुसलमान इन्हें हिन्दू समझकर मारने से चूकते नहीं थे ।

इस प्रकार की जिन्दगी से तंग आकर नेमिशराय बम्बई भाग जाते हैं । आर्थिक तंगी, बड़े भाई द्वारा बम्बई की बातें, रसवती का ब्याह अन्य से, आदि बातें कारण स्वरूप वर्णित हैं ।

वे बम्बई के वातावरण में घुलने की कोशिश करते हैं । पर कड़वी यादें कई टीस दे जाती है । ऐसे में सूजी से मिलन आदि प्रसंग भी वर्णित हुआ है । पर पिता द्वारा बुलाने पर वे लौटना तय करते हैं । शहर में यद्यपि जाति महत्व नहीं रखती पर भूख, गरीबी, बेरोजगारी की मार भयंकर है ।

ओमप्रकाश वाल्मीकि द्वारा रचित आत्मकथा "जूठन" में भी सामाजिक विषमता, अपमान आदि के प्रसंग आते हैं । यह वस्तुत: सवर्ण मानसिकता का भाण्डाफोड़ करने वाली आत्मकथा है । लेखक की प्रेमिका सविता को जब लेखक की जाति के बारे में पता चलता है तो वह दूर हो जाती है ।

लेखक को बचपन में "जूठन" पर गुजारा करना पड़ता था क्योंकि पेट भरने का तब कोई और साधन न था । प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में "अक्करमाशी" के साथ "जूठन" पर तुलनात्मक दृष्टि से विचारा जाएगा ।

अध्याय तीन

3. "जूठन" और "अक्करमाशी" : तुलनात्मक विश्लेषण

3.1 अन्तर्वस्तु

3.2 जीवन स्थिति : साम्य : वैषम्य

3.2.1 बचपन

3.2.2 किशोरावस्था

3.2.3 युवावस्था

3.3 सामाजिक स्थितियों का चित्रण : साम्य : वैषम्य

3.4 व्यवस्था के प्रति आक्रोश

अध्याय तीन

3. जूठन और अक्करमाशी : तुलनात्मक विश्लेषण

हिन्दी के जाने-माने लेखक तथा हिन्दी दलित साहित्य के अग्रणी पुरोधाओं में एक श्री ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा "जूठन" तथा मराठी के सुप्रसिद्ध दलित लेखक श्री शरण कुमार लिम्बाडे कृत आत्मकथात्मक उपन्यास "अक्करमाशी" भारतीय साहित्य की दो महत्वपूर्ण रचनाएं हैं । उपर्युक्त दोनों ही कृतियों से गुजरते हुए दो लेखकों की जीवनस्थितियों से सम्बन्धित विवरणों के माध्यम से हम भारतीय समाज के उस तेजस्वी यथार्थ से रू-ब-रू होते हैं जो किसी भी संवेदनशील व्यक्ति को हैरत में डाल देने के लिए काफी है ।

स्पष्ट ही इसका सबसे बड़ा कारण भारतीय समाज की वर्णाश्रम व्यवस्था है जो हमारे समय में लगभग विकृति के कगार पर पहुंच चुकी है ।

3.1 अन्तर्वस्तु :

सामान्यत: साहित्य का "विषय" और उसकी 'अन्तर्वस्तु' को एक-दूसरे का पर्याय मान लिया जाता है, किन्तु गंभीरतापूर्वक विचारने से हम पाते हैं कि साहित्य का "विषय" और साहित्य की "अन्तर्वस्तु" में पर्याप्त भेद है । "विषय" शब्द का अर्थ व्यापक है जबकि अन्तर्वस्तु का संकुचित । किसी एक ही विषय पर विभिन्न युगों में अथवा कभी-कभी एक ही समय में कई रचनाएं प्राप्त होती हैं, परन्तु "अन्तर्वस्तु" की दृष्टि से वे अलग-अलग होती हैं । उदाहरण के लिए "वाल्मीकि रामायण", "अध्यात्म रामायण" एवं "रामचरित मानस" आदि

रचनाएं विषय की दृष्टि से राम काव्य से सम्बन्धित होने के बावजूद "अन्तर्वस्तु" की दृष्टि से समान नहीं हैं । इसी प्रकार आधुनिक काल में सामन्ती दमन एवं शोषण के चक्र में पिसती हुई आम जनता की व्यथा-कथा को व्यक्त करने वाली विभिन्न प्रगतिशील कवियों की कविताओं में विषयगत एकता तो है परन्तु रचनागत "अन्तर्वस्तु-तत्व" अलग-अलग है । अब सवाल यह उठता है कि आखिर यह "अन्तर्वस्तु" क्या है । और किस मायने में विषय से भिन्न है ।

कहना न होगा कि सम्पूर्ण-जगत ही साहित्य का "विषय" है । जब कोई रचनाकार अपने परिवेश से गहराई के साथ जुड़ता है तभी उसकी रचना में जीवंतता आती है । किन्तु , विभिन्न परिवेशिक स्थितियों एवं गतिविधियों से जुड़ने वाले रचनाकारों की न केवल अपनी अलग-अलग दृष्टि ही होती है अपितु उनके बौद्धिक तापमान एवं संवेदनशीलता के स्तर में भी पर्याप्त अन्तर होता है । इसलिए भिन्न-भिन्न रचनाकारों द्वारा जीवन -जगत की किसी विशिष्ट अवस्था अथवा गतिविधि का वस्तुनिष्ठ पर्यवेक्षण भी भिन्न-भिन्न होता है । दूसरे शब्दों में यदि कहें तो प्रत्येक रचनाकार अपने जीवन विवेक के अनुसार ही जीवन-जगत अथवा उसके किसी तथ्य को आत्मसात कर पाता है । रचनाकार द्वारा आत्मसात कृत जीवन-जगत एवं उसके बाह्य जीवन-जगत के बीच द्वन्द्व एवं सामंजस्य की प्रक्रिया निरंतर घटित होती रहती है और इस क्रम में उनमें संशोधन, परिवर्धन, परिवर्तन आदि भी होता रहता है । रचनाकार के अंतर्जगत एवं बाह्य-जगत के बीच निरन्तर चलते इस घात-प्रत्याघात के क्रम में "जब अन्तर्तत्व-व्यवस्था का अंगभूत कोई मन स्तत्व,एक तीव्र लहर के रूप में उत्थित होकर मन की आंख के सामने तरंगायित और उद्घाटित और आलोकित होते हुए , अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठता है, तब वह कला अन्तर्वस्तु-तत्व के रूप में प्रस्तुत हो जाता है ।"[1]

- -

1. मुक्तिबोध रचनावली - भाग पांच : पृ. 109

अत: यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि जीवन-जगत के किसी विषय के रचना की अन्तर्वस्तु में स्थानांतरण की प्रक्रिया का सीधा सम्बन्ध उस जटिल रचना-प्रक्रिया से है जिससे गुजरने के उपरान्त "विषय" रचनाकार के मन: स्तत्व का एक अंग बनकर कलाभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठता है । मुक्तबोध रचनाकार के मनस्तत्व को उसके मन की अन्तर्तत्व-व्यवस्था के एक भाग के रूप में स्वीकारते हुए इस अन्तर्वत्व को रचनाकार के मन में बचपन से बाह्य-जीवन-जगत् के आत्मान्तरीकरण के सिलसिले की ही विकसित रूप में उपस्थित हुए मानते हैं । अपने "अन्तर्वस्तु" विषयक विवेचन क्रम में मुक्तिबोध ने भाववादी विचारकों की एतद्विषयक "मात्र-आध्यात्मिक" एवं मात्र मनोवैज्ञानिक" व्याख्या का पूरी तरह से निषेध किया है ।"[1]

जॉन डूयूर्ड ने अपनी पुस्तक "आर्ट एज एक्सपेरियन्स" में ब्रेडले के एक निबन्ध का हवाला देते हुए साहित्य के विषय एवं उसके अन्तर्वस्तु के बीच भिन्नता पर प्रकाश डाला है । उनकी मान्यता है कि विषय-साहित्य का बाह्य-तत्व है जबकि "अन्तर्वस्तु" अंत: तत्व । "विषय" की व्यापकता पर जोर देते हुए डूयुर्ड ने इसे एक कच्चे माल के रूप में स्वीकार किया है जो रचनाकार के अनुभव से जुड़कर 'अन्तर्वस्तु' में रूपान्तरित होता है । उन्होंने साफ लिखा है कि "यदि कोई कलाकार केवल "विषय" को लेकर रचना प्रारंभ करता है तो उसकी रचना में स्वाभाविकता की जगह कृत्रिमता की संभावना ही ज्यादा होगी[2]।"

रचनाक्रम में विषय प्रथमत: अवतरित अवश्य होता है परन्तु रचना की सफलता के लिए उसका वस्तु में रूपान्तरण आवश्यक नहीं, अपरिहार्य है कहना न होगा कि यह रूपान्तरण जटिल रचना प्रक्रिया से गुजरे बिना नहीं हो सकता ।

- -

1. मुक्तिबोध रचनावली - भाग पाँच : पृ. 107

2. Jhon Deway - Art as experiencess - P.11

अंत: यह कहा जा सकता है कि साहित्य के "विषय" का सम्बन्ध जहाँ सोधे-सोधे जीवन-जगत् से होता है वहो किसो रचना में प्रतिबिम्बित अथवा अभिव्यक्ति जोवन-जगत हो इसका "अन्तर्वस्तु" तत्व है । साहित्य का यह "अन्तर्वस्तु" केवल वस्तुनिष्ठ यथार्थ न होकर रचनाकार दवारा अपनो रचना में बौद्धिक एवं संवेदनात्मक अथवा रचनात्मक ढंग से उपस्थित यथार्थ है और इसके लिए वस्तुनिष्ठ यथार्थ का रचनाकार के अन्तर्मन रूपो त्रिपार्श्व से गुजरना अत्यावश्यक है । इस क्रम में रचनाकार वस्तुनिष्ठ यथार्थ को अपने संवेदनात्मक विचारात्मक एवं सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण से मूल्यांकित करते भो करता चलता है और इसो कारण किसो कलाकृति को "अन्तर्वस्तु" और जोवन-जगत के प्रति उसके रचयिता को अपनो सूझ-बूझ एवं कुल मिलाकर उसको - विश्व दृष्टि का परिचायक भो होतो है । दूसरे शब्दों में यदि कहें तो जब कोई रचनाकार अपने संवेदनात्मक, विचारात्मक एवं सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण अथवा अपनो विश्व-दृष्टि के अनुरूप "विषय" का आत्मसातोकरण करने के उपरान्त अपनो नवोन्मेष-शालिनो प्रज्ञा दवारा मौलिक ढंग से जिस तत्व को सावयिक संघटना के रूप में कलाभिव्यक्ति प्रदान करने को आतुर हो जाता है, वहो उस कलाकृति का "अन्तर्वस्तु-तत्व" है । जाहिर है कि विभिन्न रचनाकारों के जोवन-जगत सम्बन्धो अपने अलग-अलग दृष्टिकोण तथा उनको रचनात्मक मौलिकता के कारण हो एक हो विषय को लेकर रचित अनेक कृतियों का "अन्तर्वस्तु-तत्व" परस्पर भिन्न होता है ।"[1]

साहित्य का "विषय" और उसको "अन्तर्वस्तु" को लेकर किए गए उपर्युक्त विवेचन के आलोक में "अक्करमाशो" और "जूठन" पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि इन दोनों हो कृतियों को "विषयवस्तु" समान है । किन्तु, यहाँ अन्तर्वस्तु" में एक निजोपन अवश्य है । स्पष्ट हो "अक्करमाशो" व "जूठन" दोनों हो आत्मकथात्मक कृतियों का आधार-भूत विषय है - हिन्दू

---

1. डा० रविरंजन : प्रगतिवादो कविता में वस्तु और रूप : पृ० 82

वर्णाश्रम व्यवस्था के चलते सड़ा-गला भारतीय सामाजिक जीवन और इस सामाजिक व्यवस्था का नर्क भोगने के लिए अभिशप्त दलित समुदाय । किन्तु शरण कुमार लिंबाले और ओमप्रकाश वाल्मीकि ने इस व्यवस्था को अपने-अपने ढंग से अस्वीकारा है । हालांकि दोनों ही दलित समुदाय में जन्मे तथा दोनों का दृष्टिकोण अम्बेडकरवादी है, पर दोनों का परिवेश अलग-अलग है ।

ओमप्रकाश वाल्मीकि को जातिवाद की प्रताड़ना मिली, वहीं शरणकुमार लिंबाले को जातिवाद के साथ-साथ अवैध सन्तान होने की पीड़ा भी झेलनी पड़ी है । इसके साथ-साथ और एक गौरतलब बात यह है कि इन दोनों ही लेखकों का परिवेश प्रकट रूप में समान होने के बावजूद गुणात्मक दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न है वस्तुतः इस गुणात्मक भिन्नता का सबसे बड़ा कारण यह है कि जहां महाराष्ट्र में जनसमुदाय की परिवर्तित चेतना सामाजिक आन्दोलनों के माध्यम से विकसित हुई है, वहीं हिन्दी-भाषी क्षेत्र में इस चेतना का विकास समाज-सुधार आन्दोलनों की प्रक्रिया का परिणाम होने के बजाय, सीधे-सीधे राजनीतिक उभार का फलाफल है । इस परिवेशगत विभिन्नता को यदि कोई चाहे तो इन दोनों ही रचनाकारों के रचनात्मक तेवर तथा अभिव्यक्तिगत पैनापन में अलग-अलग रेखांकित कर सकता है । इसके अलावा यह कहना भी अनुपर्युक्त न होगा कि इन दोनों रचनाकारों के यहां अपने-अपने परिवेश के आत्मसातीकरण की प्रक्रिया भी कहीं न कहीं, परस्पर भिन्न रही है । इसलिए ही स्वभावतः "अवकरमाशी" एवं "जूठन" की "अन्तर्वस्तु" का अपना एक निजी वैशिष्ट्य अवश्य है ।

3·2 जीवन स्थिति : साम्य : वैषम्य :

संसार में सबल वर्ग निर्बल वर्ग को हमेशा ही दबाता, कुचलता व पीड़ित करता आ रहा है । भारत में शूद्रों का सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व मानसिक शोषण उतना ही पुराना है जितनी कि भारतीय सभ्यता व संस्कृति । स्पष्ट ही

वर्णाश्रम व्यवस्था पहले कर्म पर आधारित थी पर मनुस्मृति में यह जन्म पर आधारित हो गया। इस प्रकार शूद्रों का कार्य, कर्म व जन्म दोनों पर आधारित हो गई । शूद्रों का कार्य तीनों उच्च वर्ग ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य की सेवा करना ही माना गया ।

इसी अमानुषिकता का पता ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा "जूठन" व शरणकुमार की आत्मकथा "अक्करमाशी" से चलता है ।

3•2•। बचपन :

ओमप्रकाश वाल्मीकि का जन्म उत्तरप्रदेश के बरला, "जनपद" मुजफ्फर-नगर में हुआ । बचपन से ही अनेक कठिनाईयों व अपमान को वे सहन करते रहे । उन्हें वहाँ रहना पड़ता था, जहाँ गंदगी से परिपूर्ण माहौल था । लेखक के शब्दों में : "चारों तरफ गंदगी भरी होती थी । ऐसी दुर्गन्ध, कि मिनट भरमेंसांस घुट जाए । नंग गलियों में घूमते सुअर, नंग-धड़ंग बच्चे, कुत्ते रोजमर्रा के झगड़े बस यह था वह वातावरण जिसमें बचपन बीता ।"[1]

उनको कच्चे मकानों में रहना पड़ता था । बरसात में कब मकान ढह जाए, यही चिन्ता उन्हें और उनके परिवार को खलती रहती थी । बरसात के कारण मकान में गिरती बूँदों को मिट्टी के ढेलों गन्ने से दबाया जाता था । उनकी जाति के बच्चों को स्कूल में पढ़ने का अधिकार नहीं था यदि वे जाते भी थे तो शिक्षकों द्वारा उन्हें जलील होना पड़ता था । "अबे वूहड़े के" का सम्बोधन उनकी जाति को बार-बार याद दिलाकर उन्नति के पथ को रोकने का एक

।• जूठन : पृ• ।।

एक हथकण्डा था जिसके कारण वे आगे न आए । बेवजह पीट देना शिक्षकों की आदत थी । उसी प्रकार उनसे स्कूल की सफाई कराना उनकी जाति को उघाड़ने का ही एक मार्ग था । शिक्षक कहा करते थे : "वह जो शीशम शीशम का पेड़ खड़ा है, उस पर चढ़ जा और टहनियाँ तोड़के झाड़ू बणा ले । पत्तों वाली झाड़ू बणाना । और पूरे स्कूल कू ऐसा चमका दे जैसा सीसा । तेरा तो यो खानदानी काम है । जा····· फटाफट लग जा काम पे ।"[1]

लेखक को स्कूल में अलग से बैठना पड़ता था । उनकी जाति के बच्चों को आर्थिक अभाव के कारण स्कूल में प्रवेश तक नहीं मिल पाता था । अन्ततः भाभी के गहनों को बेचकर वाल्मीकि जी को स्कूल में प्रवेश लेना पड़ा ।

लेखक को एक समय भी भरपेट खाना नसीब नहीं था । तगाओं के खेतों में कड़ी धूप व पाँवों में काँटे की चुभन की मजदूरी, मात्र एक किलों से भी कम गेहूँ था । माँ, पिता, बहन व भाभी आदि को दिन-रात काम करना पड़ता था फिर भी इनकी मजदूरी इतनी नहीं थी, कि वे दो वक्त ठीक से खाना-खा सके । गोबर ढोना, मृत जानवरों को हटाना आदि कार्य इनके माथे लिख दिए गए थे बदले में इन्हें खाने को जूठन मिलती थी । लेखक के शब्दों में "इन सब कार्यों के बदले मिलता था दो जानवर । पीछे फसल के समय पाँच सेर अनाज यानी लग-भग ढाई किलो अनाज । इस मवेशीवाले घर से साल भर में 25 सेर अनाज दोपहर को प्रत्येक घर से एक बची-खुची रोटी, जो खास तौर पर चूहड़ों को देने के लिए आटे में भूसी मिलाकर बनाई जाती थी···· कभी-कभी जूठन भी भंगन की टोकरी में डाल दी जाती थी ।"[2]

- -

1. जूठन : पृ. 14-15.

2. जूठन : पृ. 19

उनकी जाति में सूअर का महत्व अधिक था । शादी - ब्याह हो या देवी पूजा हो, हर समय सूअर की बलि चढ़ायी जाती थी । सूअर इनकी जिन्दगी का अहम हिस्सा था । इसके अलावा भगवान पर अन्धश्रद्धा आदि का भी प्रचलन था । इनके समुदाय के लोगों को रहने के लिए न मकान था न आजीविका के लिए खेती-बारी थी रहना भी पड़ता तो वहाँ- जहाँ स्त्रियाँ या गाँव वाले दिशा मैदान के द्वारा गंदगी फैलाते थे । बारिश के कारण उनके कच्चे मकान ढह जाते थे । पहनने पहनने को ठीक से कपड़े नहीं, हुआ करते थे । इसी गन्दगी पूर्ण माहौल में लेखक ने अपना बचपन व्यतीत किया ।

शरण कुमार लिंबाले का जन्म कर्नाटक (महाराष्ट्र) में हुआ । उनका बचपन भी जाति, भाषा, धर्म, आदि विवादों में धँसा तथा त्रासदी पूर्ण रहा ।

विद्यालय द्वारा आयोजित वनभोजन के लिए सभी विद्यार्थीयों के साथ लेखक भी भाग लेते है । हालाकि सभी विद्यार्थी एक साथ जाते है, पर जातीयता के कारण सर्वण लड़के आपस में खेलने व भोजन करने लगे, तो दलित विद्यार्थी अलग । लेखक के शब्दों में "बनियों तथा ब्राह्मणों के लड़के कबड्डी खेल रहे थे । हम अछूत, बच्चे उनसे अलग-थलग बैठे थे । मल्या, मारत्या, उंबया, परश्या, वंदमा आदि छूना पानी का खेल शुरू कर चुके थे । दलितों का खेल अलग । सवर्णों का खेल अलग । दो-दो खेल, दो-दो आँधियों की तरह । थोड़ी देर बाद खाना शुरू हुआ ।"[1]

स्कूल अधिकतर मंदिरों में अवस्थित होते थे । जिसमें भीतर सवर्ण विद्यार्थी बैठते व दरवाजे के पास (बाहर) महा२ जाति के छात्र । स्कूल को लीपने का काम अछूतों को दिया था । उन्हें सारे स्कूल को गोबर से लीपना

- -

1. अक्करमाशी : पृ. 12

पड़ता था, जिसकी सराहना होती थी लेखक के शब्दों में "सावन माह में स्कूल तेली की कोठी में लगता था । मैं पहली बार उस कोठी में गया था । लड़कों के बीच जाकर बैठ गया । उस कोठी के मालिक के लड़के महाब्बा ने मुझे कहीं से देख लिया । वह भागता हुआ आया । मेरी स्लेट तथा पुस्तकें छीन ली और पूरी शक्ति से वह मुझे पीटने लगा । आँखों के सामने तारे चमकने लगे । सारे बच्चे मेरी ओर देख रहे थे । शिक्षक आए । उन्होंने सबसे दूर दरवाजे के पास बैठने के लिए मुझसे कहा । मैं उस स्थान पर अकेला बैठ गया । भीतर ही-भीतर घुटते हुए ध्रुव की तरह स्थिर ।"[1]

इस प्रकार धर्म से भले ही लेखक हिन्दू था, पर मंदिर में उसे प्रवेश करने नहीं दिया जाता था । स्कूल में सबसे ऊपर सवर्ण शिक्षक बैठते थे । फिर द्वितीय, लड़के-लड़कियाँ, व अन्त में जूतों के पास में लेखक को बैठना पड़ता था । सवर्ण बच्चे लेखक को बार-बार अपमानित करने से नहीं चूकते थे । कंकड़ मारना, गालियाँ देना, "महार" कहकर बुलाना । आदि तो एक क्रम-सा था ।

रहने के लिए मकान की अवस्था ठीक न थी । शरण लिखते है :- "कचरे का ढेर, कुत्ते, सुअर तथा झोंपड़ी.... यही संगी-साथी थे । जगन्नाथ पटेल के धूरे पर दिन भर खेला करता था ।"[2]

खाने व पीने की भी तंगी थी । सवर्ण औरतें जिस नदी में कपड़े धोती, धनगर कुनबी नहाते, जानवरों को नहलाते इन सबसे एकत्रित हुआ गंदा पानी लेखक को अमृत समझकर पीना पड़ता था । क्योंकि निचले स्तर का पानी पीना,

- -

1. अक्करमाशी : पृ. 16
2. - वही - : पृ. 17

इनकी मजबूरी थी । "एक दिन मैं नदी के बीच, पानी में खड़े होकर पानी पी रहा था । किसी माँ ने अपने छोटे बच्चे का मैले से भरा कपड़ा शायद धोया था । उसी मैल का सैलाब मेरे नजदीक आ रहा था । उबकियाँ आईं पर किससे कहूँ ? और फिर जल से अधिक पवित्र कौन सी वस्तु है ? सवर्णों के घाट से आए, पानी को हम लोग पवा रहे थे ।"[1]

खाने के लिए लेखक को जूठन मिलती थी । शादी -ब्याह के समय जो जूठन बच जाती, वह उनको खाने को दिया जाता । इनके परिवार वालों को गोबर से निकली ज्वार या गिरे हुए आटे को छान कर अपना पेट भरना पड़ता था "महार बस्ती की बैठक को लीपना, वहाँ दिया बत्ती करना, सवर्णों के यहाँ कोई जानवर मर गया हो तो उसे खींच कर लाना, काटना, चमड़ा उतारना और बेचना । जिनके घर पर जानवर क मरता , वे दो किलो ज्वार देते । उस ज्वार को भी चारों में समान रूप से बाँटना पड़ता था ।"[2]

लेखक की जाति के लोगों के लिए पेट की आग बुझाने के लिए जानवरों का सहारा था । इन्हीं से इनकी रोजी, रोटी चलती थी । लेखक को इन सब कार्यों से घृणा भी होती थी पर विडम्बना यह थी कि रोजी-रोटी कमाने का अन्य मार्ग भी न था । शरण लिखते हैं :- "जिस महीने में जानवर अधिक मरते थे, महारों के लिए वह खुशी का महीना होता था । जिस माह में जानवर मरते नहीं थे, वह महीना अकाल की तरह लगता । ऐसे समय एकाध अछूत परेशान होकर, किसी जानवर को गलत-सलत चीजें खिला कर मार देता, अथवा माण अण्णा या प्रहलाद किसी दूर गाँव की भैंस भगाकर ले आते । किसी को

---

1. अक्करमाशी : पृ. 19
2. अक्करमाशी : पृ. 27-28

पता भी नहीं चलता कि जानवर कहाँ गायब हो गया । पड (मृतजानवर) दिखते ही हम बच्चों को बेहद खुशी होती ।"[1]

अछूत समाज में अंधविश्वास को ऐसा जलजला था कि बीमार होने पर लोगों को चूल्हे की राख लगा दी जाती थी । यदि अधिक बीमार हो तो भूत-प्रेत समझा जाता था ।

शरण कुमार की माँ अछूत, पिता सवर्ण व नाना मुसलमान थे । नाना लेखक को कुरान, आदि पढ़कर सुनाते थे, संतामाय, अंबे, दुर्गे, लक्ष्मी, कहती तो दादा बंदेनवाज , हाजीमलन, अल्ला बिस्मिल्ला, मौला कहते ।"[2]

इस प्रकार लेखक को, मुस्लिम, हिन्दू आदि धर्म के मध्य पिसना पड़ा । पर पिता अपने बेटे को अपनाने से अस्वीकार करते थे । वे लेखक को अपना नाम तक देना पसंद नहीं करते । शरण जी ने अपनी इस त्रासदी का वर्ण न करते हुए लिखा है :- "हंण्मंता ने मसाई के दाम्पात्य जीवन को तोड़ दिया और उसे अपने नियंत्रण में रख लिया जैसे शौक से कबूतर पालता हो । दोनों मजे में रहने लगे । मसाई गर्भवती हुई । लड़का हुआ । लड़के का बाप कौन ? हंण्मंता को मसाई चाहिए थी उसका शरीर चाहिए था, पर संतति नहीं ? मसाई के उस लड़के के नाम के साथ अगर हंण्मंता का नाम लग जाता तो उसकी बदनामी होती । लड़का बड़ा होकर खेती में हिस्सा मांगे तो ? मसाई कोर्ट में गई तो ? हंण्मंता यह सब नहीं चाहता था ।"[2]

---

1. अक्करमाशी : पृ. 52
2. अक्करमाशी : पृ. 57

लेखक ने परिस्थितिवश शराब का व्यापार भी किया है जहाँ सवर्ण या धनगार सभी शराब पीने के लिए आते थे। जहाँ दिन के उजाले में सवर्ण इनसे दूर रहते थे। वहीं रात के अन्धेरे में वे शराब पीने आते थे तथा दलित स्त्रियों का स्पर्श इन्हें सुखद लगता।

पुलिस कर्मचारी इन्हें पीटने व माल लूटने में पीछे नहीं थे। मुर्गियाँ हो, या पैसे, किसी भी रूप में, वे कुछ न कुछ जरूर ले जाते। बस स्टैंड के पास तीन पत्थरों का चूल्हा, फेंकी हुई पत्ती का उपयोग चाय के रूप में, धूप से पिघली हुई गुड़ को कुरेद-कुरेद कर शक्कर के रूप में उपयोग करना, चाय के लिए दादा का हमाली करना तथा खुद लेखक का पेपर बेचना आदि। यही था लेखक का बचपन।

3·2·2 किशोरावस्था :

जाहिर है कि बालमाऊ का बचपन जिस प्रकार गंदगी-पूर्ण माहौल व शिक्षकों द्वारा अपमानित होते हुए व्यतीत हुआ, उसी प्रकार किशोरावस्था में भी उसे दु:ख झेलने पड़े। पढ़ने के लिए भाभी की पाजेब बेचकर लेखक को स्कूल में प्रवेश लेना पड़ा। वहाँ त्यागियों के बच्चों का दबाव अधिक था। उनके द्वारा हर वक्त छींटाकशी व मज़ाक उड़ाना जिन्दगी का एक नियम बन गया। पर चन्द्रपाल की दोस्ती से त्यागी लड़कों की दुत्कार व छींटाकशी कम हो गई। अब न पानी के लिए किसी का इंतजार करना पड़ता न किसी बात के लिए डर था। इनसे लेखक पढ़ाई में अव्वल रहा तथा कक्षा का मानीटर भी बन गया। पर उनके प्रति अध्यापकों की प्रताड़ना व उपेक्षा-भाव में कोई कमी नहीं आई।

सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भाग लेने की उसे मनाही थी। क्योंकि शिक्षक त्यागी थे। चपरासी परीक्षा के दिनों में उसे पानी ऊपर से देते थे। लेखक के

शब्दों में "स्कूल के वार्षिक उत्सव में जब नाटक आदि का पूर्वाभ्यास होता था मेरी भी इच्छा होती थी, कोई भूमिका मुझे भी मिले । लेकिन हमेशा दरवाजे के बाहर खड़ा रहना पड़ता था । दरवाजे के बाहर खड़े रहने की इस पीड़ा को तथाकथित देवताओं के वंशज नहीं समझ सकते ।"[1]

किशोरावस्था में आर्थिक जर्जरता का सामना लेखक को करना पड़ा । उन्हें जो मिल जाता, पहनना पड़ता था, तथा जो मिला था खा लेना पड़ता था । मरे हुए जानवरों को उठाने का काम उसकी जाति को सौंपा जाता था । साथ ही बेगारी भी करनी पड़ती थी, जिसे न करने पर तगाओं व दरोगा बिना कसूर के पिटाई करते थे, लेखक के शब्दों में "बस्ती से पकड़कर लाए लोगों को मुर्गा बनाकर लाठियों से पीटा जा रहा था । पीटने वाला सिपाही थक गया था । प्रत्येक प्रहर पर पिटने वाला चीख उठता था । खुले आम यह शौर्यउत्सव मनाया जा रहा था, जिसमें लोग मूक बने तमाशा देख रहे थे । कहीं कोई विरोध या प्रतिरोध नहीं था ।"[2]

बीमार पड़ने पर लेखक के जाति के लोगों का दवाईयों से इलाज नहीं किया जाता था । वस्तुत: झाड-फूंक, टोने-टोटके, ताबीज, गंडे, भभूत आदि से उनका इलाज किया जाता था । इलाज व दवाईयों के अभाव में हर साल बस्ती में कई लोगों की मौत होती थी पर अंधश्रद्धा में कोई भी कमी नहीं थी ।

समाज में जाति मनुष्य भी श्रेष्ठ मानी जाती थी । जब तक जाति से परिचित नहीं होते तब तक लेखक का स्वागत होता है, पर जाति का पता

---

1. जूठन : पृ. 26-27
2. जूठन : पृ. 51

चलते ही आवभगत डंडों व अश्लील गालियों से होने लगती थी । लेखक साइकिल के टूट जाने भय व केदपाल के घर में स्त्री की दुर्दशा की हालात आदि से काफी आदि से काफी व्यथित रहता था । क्योंकि "त्यागी इंटर कालेज में शिक्षक लड़कों को लात-घूंसों से पीटते थे । ये लात, घूंसे एक अध्यापक के नहीं बल्कि किसी बदमाश गुण्डे के होते थे । भला गुरूजन अपने शिष्यों को इस निर्दयता से पीट सकते हैं ।"[1]

शिक्षकों की यह इच्छा थी कि हर विद्यार्थी अच्छे अंक से उत्तीर्ण हो । वे यह भी आश्वासन देते थे कि वे घर आकर अपनी शंका का समाधान करें । किन्तु घर आने पर घर के काम तो करवाते थे पर जाति के कारण उन्हें पढ़ा नहीं सकते थे । जाति के कारण जहां प्रयोगिक परीक्षा में छोटी जाति के छात्रों को कम अंक मिलते थे, वहीं लिखित परीक्षाओं में अधिक ह ।

पढ़ाई के लिए कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था । जैसे परीक्षा के दिनों में कई तरह की अड़चने आती थी । बिजली तो थी नहीं, डिबरी या लालटेन की रोशनी में पढ़ाई होती थी । लेखक चारपाई पर बैठकर लालटेन किसी ऊँची-सी जगह पर रख लेता था । आस-पड़ोस में हो हल्ला इतना था कि किताब में ध्यान नहीं लग पाता था । लड़ाई-झगड़ा तो साधारण सी बात थी । एक दूसरे को चिल्ला-चिल्लाकर उकसाया जाता था । औरत-मर्द के भेद को भुला दिया जाता था । जब गालियों का प्रयोग होता था तो रिश्ते भी गाली बन जाते थे ।"[2]

- -

1. जूठन : पृ. 70
2. जूठन : पृ. 73

पर इतना सब कुछ झेल कर पढ़ाई करने के बावजूद भी उन्हें मात्र जाति के कारण परीक्षा में अनुतीर्ण कर दिया जाता था । पढ़ाई में सक्षम होने के बावजूद उनको अनुतीर्ण करना, यह प्रकाण्ड पण्डितों का आदर्श था । फेल हो जाने का मर्म लेखक को और अधिक विचलित कर देता था । उनके शब्दों में :-- देहरादुन के लिए बस में बैठते हुए मन उदास था । लग रहा था जैसे बरला हमेशा के लिए छूट रहा है । कडवी यादों ने मन कसैला कर दिया था । यह कसैलापन अभी-भी मन के किसी कोने में पसरा बैठा है जो मौका मिलते ही अपना रंग और स्वाद दिखा देता है ।"[1]

शरण कुमार जी का बचपन जिस प्रकार दिशाविहीन था उसी प्रकार उनकी किशोरावस्था भी छिन्न-विछिन्न थी । उनके शब्दों में "एक गाल को ऐंठ दे तो दूध आ जाए और दूसरे को ऐंठ दे तो खून ऐसी वह उम्र थी । पर इन दिनों में हवा खाकर मटरगस्ती कर रहा था । इसी अवस्था में गलत आदतों का शिकार भी हो गया था । पीकर फेंकी गई बीड़ियाँ या सिगरेटों के टुकड़े मैं उठाता और उन्हें पीता । लड़कियों पर लाइना मारता । दातून करता शौच के लिए पानी ले जाता ।"[2]

किशोरावस्था में लेखक शेवंता की ओर आकृष्ठ हुआ पर अक्करमाशी अर्थात् अवैध संतान होने के कारण विवाह नहीं हो पाया । लेखक के शब्दों में "संतामाय आंखों में आंसू लाकर कहती "महार बहुत भयंकर होते हैं तेरी बोटियाँ काट डालेंगे । उन्हें पूछने वाला कौन हैं ? और अपने घर में तो न कोई पुरुष और न जिम्मेदार आदमी । हम औरतों के साथ तो वे बुरी तरह पेश आएंगे ।

---

1. जूठन : पृ. 83
2. अक्करमाशी : 43

सार्वजनिक बलात्कार करेंगे । तू सोच शेवंता के बारे में भूल जा अगर गाँव की किसी सवर्ण स्त्री के साथ तू शादी करेगा, तो दलित पीछे ताकत बनकर खड़े हो जाएगा ।"[1]

शराब पीने की आदत लेखक के घर में सभी को थी । जिस दिन शराब बिकती उसी दिन घर में अनाज आता अन्यथा नहीं । शराब की आदत गाँव में सभी में लग गई थी । शराब के नशे में लोग अपनी जमीन-जायदाद व खेती-बाड़ी बेच डालते थे । शराब का व्यापार बंद होने पर लेखक के दादा दिया बत्ती, हमाली करने लगे । पर मुसलमान होने के कारण दादा को दिया-बत्ती कार्य से निकाल दिया गया । ऐसे में पेट की आग बुझाने के लिए लेखक को हर संभव कार्य करना पड़ता था । शरण लिखते हैं "पेट की आग बुझाने के लिए लेखक को हर संभव कार्य करना पड़ता था । शरण लिखते हैं "पेट की आग बुझाने के लिए हम लोग नदी-नालों के किनारे घूमते । केकड़े पकड़ते । मछलियों को पकड़ते मधुमक्खियों के छत्ते निकालते । बगुलों को पकड़ते । खरगोशों का शिकार करते । साहे निकालते । गिलाले से चीलों को गिराते । गिलहरियों को भूनकर खाते । वीरदेव के बाग में जाकर खेलते । मूँगफलियों की चोरी करते । चोरी की गई मूँगफलियों को बेचते । बालण्णा के कुंभ में तैरते ।"[2]

यही नहीं सूअर को पकड़ना तथा भून कर उसका मांस खाना लेखक की विवशता थी । यहाँ तक कि केले बेचना, रद्दी के टुकड़ों को बेचना जैसे कार्य भी लेखक ने किये हैं ।

- -

1. अक्करमाशी : 46
2. अक्करमाशी : पृ. 94

शरण कुमार जी को स्कूल में प्रवेश लेते वक्त भी जातियता आड़े आती है पिता का नाम न होने के कारण लेखक को तकलीफ झेलनी पड़ती थी। मुल्ला गुरूजी के कारण यह तकलीफ तो कम होती पर "दूसरे दिन निःशुल्क पढ़ाई का प्रार्थनापत्र लेते हुए, कक्षा अध्यापक ने पूछा "तेरे पिता नहीं है क्या ? मर गए हैं ? तेरी मां नहीं है क्या ? मर गई है ? मेरे गांव के लड़के मेरी ओर गिद्ध की आंखों से देख रहे थे। बहुत बड़ी आंधी के बाद की र श्मशान-सी शांति कक्षा में फैल चुकी थी। अपनी भीतरी आंधी में मैं खो गया था, डोर टूटे पतंग की तरह।"[1]

वपलगांव के ओर्डिंग में शरण जी का झुकाव बौद्ध साहित्य की ओर होने लगा तथा अंग्रेजी का अध्ययन भी वे करने लगे। जिससे उनकी अंग्रेजी अच्छी होने लगी। शरण जी जिस समाज से आते हैं उसकी विडम्बना यह थी कि दलितों के बनाए कुएं का पानी स्वयं दलित भी नहीं पी सकते थे। लेखक के शब्दों में "नारायण पटेल का कुआं। पिछले वर्ष दलितों ने इसे बनाया है। धोंडप्पा, दत्तू, देवय्या, सिद्धया, त्रिमूक विष्णु, मसा, मनू, मन्त्रा, शिवलिंग नामदेव आदि ने इस कुएं का काम ठेके पर लिया था, यहां दलितों ने पसीना बहाया था। यहीं पर उन्होंने बाल्द बिछाई थी। इस धरती को फोड़कर उन्होंने पानी निकाला। पर आज यह कुआं दलितों के लिए खुला नहीं है। उसका पानी वे नहीं पी सकते।"[2]

होटलों में चाय पीने के लिए लेखक को अलग कप सासर दिया जाता था इन्हीं हालतों में लेखक ने प्रथम श्रेणी में मैट्रिक पास किया। पर आगे पढ़ने के

---

1. अक्करमाशी : पृ. 86-87
2. - वही - : पृ. 114

लिए पैसों की तंगी थी । दिया हुआ कर्ज वापस नहीं मिलता । साहूकार से माँगने जाओ तो वह मजबूरी दिखाता है । इस अमानवीय स्थिति में लेखक की किशोरावस्था व्यतीत हुई । इन्हीं कटु यादों को लेखक वह सोलापुर आगे पढ़ाई करने गया ।

3·2·3 युवावस्था :

किशोरावस्था की असीम दु:खमयी व उपेक्षित यादों को मन में समेटे वाल्मीकि जब देहरादुन आया, जहाँ वह अपने मामा के साथ रहता था । पर यहाँ भी उन्हें जातिभेद को सहन करना पड़ता था लेखक के शब्दों में "इन्द्रेशनगर में ज्यादातर सफाई करने वाले भंगी और जूते बनाने, मरम्मत करने वाले जटिये रहते थे । भंगी अपने आपको "वाल्मीकि" कहलाना पसंद करने लगे थे । मोहल्ले का प्रवेश सहारनपुर रोड़ की ओर से था तो आने का रोड़ कांवली रोड़ से । गरीबी और अशिक्षा दोनों को पुश्तैनी मिली थी । छोटे-छोटे दबडेनुमा मकानों में तंगमहल जीवन था सभी का । इक्का-दुक्का लोग ही दो वक्त की रोटी कुछ ढंग से खा पाते थे ।"[1]

उस मुहल्ले में हमेशा झगड़े होना आम बात थी । लेखक के शब्दों में "इन्द्रेश नगर वैसे तो एक ही मोहल्ला था । लेकिन अंदरूनी तौर पर दो हिस्सों में था । एक ओर वाल्मीकि रहते थे, तो दूसरी ओर जाटव, आपस में सम्बन्ध तनावपूर्ण थे । अक्सर मारपीट, लड़ाई-झगड़े होते रहते थे दो-तीन परिवार माटण्डो के भी थे । कभी-कभी तो तलवारे भी खिंच जाती थी । ऐसे वरम क्षणों में उनकी औरत मर्दों को घरों में खींच लेती थी । खूब-शोर-शराबा होता था ।"[2]

1· जूठन : पृ· 84

2· जूठन : पृ· 87

पर इन आपसी खिंचाव के बावजूद लेखक की हेमलाल आदि से हुई, जो उनके अच्छे मित्र बने। हालाँकि लेखक के मामा इनका विरोध करते रहे, पर उनसे मित्रता का बंधन वे न तोड़ पाये।

महाविद्यालय में दाखिला काफी भाग-दौड़ के बाद मिला। पहनने के लिए वस्त्र तो ठीक न थे। पर गरीबी के कारण लेखक भाई की दी हुई ढ़ीली पेंट पहनकर कालेज जाने लगे। पर लड़कों की छींटाकशी सहन करना पड़ता था।

लेखक ने आर्डिनेंस फैक्टरी में ट्रेनिंग हेतु पढ़ाई बीच में छोड़ दी। जिससे उसे आत्मसम्बल मिला। उनके शब्दों में "मैं आत्मनिर्भर बन जाने के सपने देखने लगा था। घोर गरीबी के बीच जिए दिन मैं भूल नहीं पा रहा था। तकनीकि शिक्षा पाकर जीविका के लिए दो वक्त का रोटी कमा लेने का रास्ता खुलने लगा था।"[1]

जबलपुर में आर्डिनन्स फैक्टरी प्रशिक्षण संस्थान खमारिया में वाल्मीकि की नियुक्ति हुई। जिससे उसके लिए प्रगति का मार्ग प्रशस्त होने लगा। और वह मार्क्सवादी साहित्य से भी अवगत होने लगा। वह नाटकों का मंचन, अभिनय, निर्देशन आदि भी करने लगा। आगे पढ़ना चाह कर भी पैसे की तंगी के कारण वह पढ़ न पाया। अंबरनाथ छात्रावास में कई सवर्ण मित्रों से उनकी मित्रता हुई। हालाँकि इन्हें कुछ छींटाकशी यहाँ भी जाति के कारण झेलनी पड़ी, पर सुदामा पाटिल के साथ उन्हें हर प्रकार की सुविधा भी और वे दोनों घनिष्ठ मित्र भी थे। दोनों ने मिलकर कई नाटक देखें व उनका मंचन भी किया।

---

1. जूठन : पृ. 95

जाति का पिण्ड हमेशा ही लेखक के साथ रहा जिसने जन्म से लेकर अब तक पीछा नहीं छोड़ा । कुलकर्णी की बेटी सविता का झुकाव लेखक की ओर आरंभ से था पर लेखक के जाति के बारे में पता चलने पर उससे कटने लगी । लेखक शब्दों में "सविता इस भेदभाव को सही और संस्कृति का हिस्सा मान रही थी । उसके तर्क मुझे उत्तेजित कर रहे थे । फिर भी मैं काफी संयत था उस रोज । उसका कहना था, एस•सी• अनकल्चर्ड {असभ्य} होते हैं गंदे रहते है ।"[1]

चन्द्रपुर में लेखक की नियुक्ति हुई । इन्हीं दिनों इनकी कविताएँ नवभारत, युगधर्म, नई दुनिया, जनप्रतिनिधि, आदि में छपने लगी । उससे दयापवार की मुंबई नगरी, मेघदूत, "नाट्यसंस्था" के नाटक आदि का मंचन भी किया । वह दलित आन्दोलन से भी जुड़ने लगे । तथा उनकी एक कविता "विद्रूप चेहरा" शीर्षक से छपी ।

इस बीच बौद्ध धर्म की कई पुस्तकों का परिचय भी उन्हें मिला जो "राहुलजी" द्वारा अनूदित थी जैसे "अंगुत्तरनिकाय", "मझन निकाय", "संयुक्त निकाय", सतुपिटिक, दीर्घनिकाय, बौद्ध दर्शन आदि ।

लेखक को वाल्मीकि "उपनाम" के कारण भी कई प्रकार की यातनाएं झेलनी पड़ी । कुछ लोग इनके उपनाम की धज्जियाँ उठाते थे तो कुछ लोग साहसिक कदम मानते थे । लेखक ने डा० कुसुम चतुर्वेदी को बताया कि सीमा उनकी भतीजी है पर चतुर्वेदी के पूछने पर सीमा ने खुद मना कर देती है सीमा कहती है कि

1• जूठन : पृ• 118

"सभी के सामने अगर मान लेती कि आप मेरे बाबा है तो सहपाठियों को मालूम हो जाता कि मैं "वाल्मीकि" हूं.... आप कैसे कर सकते है मैं नहीं कर सकती.... गले में जाति का ढोल बाँधकर घूमना कहाँ की बुद्धिमानी है । लेखक के अनुसार सीमा के तर्क समूची व्यवस्था की विद्रूप तस्वीर बनकर सामने खड़े थे ।"

इतना ही नहीं मकान मालिक उपनाम सुनते ही किराये पर मकान देने से मुकर जाते थे । मंजू अपने शादी के कार्ड में लेखक का नाम इसलिए नहीं छपवाती क्योंकि उसे डर है कि उसकी जाति का सबको पता चल जाएगा । बौद्ध साहित्य एवं दर्शन पर व्याख्यान देते समय भी लेखक पर छींटाकशी होती है : "वाल्मीकि बौद्ध - साहित्य और दर्शन पर बोलेगा । शर्म नहीं आती ।"[2]

इसी प्रकार राजस्थान भ्रमण से दिल्ली चन्द्रपुर की (महाराष्ट्र) की यात्रा के दौरान अपने एक सहयात्री से लेखक की घनिष्ठता स्थापित हुई पर जैसे ही उसे लेखक की जाति का पता चला उनकी घनिष्ठता समाप्त हो गयी । लेखक के शब्दों में "भंगी शब्द सुनते ही सन्नाटा छा गया । रास्ते भर दोनों परिवारों में कोई संवाद नहीं हुआ । एक ऐसी दीवार बीच में खड़ी हो गई थी, जैसे हमने किसी चोर दरवाजे से घुसकर उनकी हंसी-खुशी में खलल डाल दी हो । माहौल बेहद बोझिल हो गया था । बहुत तकलीफ देह हो गयी थी यात्रा ।"[3]

- -

1. जूठन : पृ. 153
2. जूठन : पृ. 156
3. जूठन : पृ. 159

यहाँ तक कि सम्पादक भी इनकी रचनाएँ छापने से कतराते थे लेखक का कहना है : "यह कैसा मजाक है साहित्य के भीतर भी एक सत्ता है जो अंकुरित होते पौधों को गर्भ में ही कुचल देती है । सारिका बंद हुई, मुझ जैसे न जाने कितने रचनाकारों की हत्याएँ की होगी, सारिका सम्पादक मण्डल ने, जो विशेषांकों की बाढ़ में अपनी नाव तो नहीं बचा पाए, हम जैसों को क्या पार लगाते । साहित्यिक क्षेत्रों में यह कोई पहली घटना नहीं थी । फिर भी मुझे लग रहा कि नए रचनाकारों को रोकना भी शायद सम्पादक और साहित्यिकारों की कोई रणनीति है ।"[1] यहाँ पर भी इनकी जाति ही आड़े आई क्योंकि सम्पादक समझते रहे कि यदि इन्हें पत्रिकाओं को प्रकाशित करेंगे तो कोई सवर्ण रचनाकार अपनी रचनाएँ प्रकाशित होने के लिए नहीं भेजेगा ।

शरण कुमार की युवावस्था का आरंभ गरीबी व अपमानित जिन्दगी से हुआ दयानन्द महाविद्यालय में प्रवेश के बाद की मानसिकता का वर्णन करते हुए लिखते हैं : "दयानन्द महाविद्यालय में लिंबाले नामक क्लर्क था संयोग देखिए कि मेरे प्रवेश के समय वही खिड़की पर था । उसने मेरे नाम की एन्ट्री कर ली । जात-बिरादरी पूछी । मैंने हिन्दू अछूत कहा तो उसने आश्चर्य से कहा : लिंबाले उपनाम महारों में भी होता है ।"[2]

दयानन्द महाविद्यालय में प्रवेश करने के बाद लेखक एक नये परिवेश से परिचित होते हैं पर यहाँ भी उनकी "जाति" का शिकंजा नहीं छूटता । बंदया दुपारमुण्ड व डोलारे आदि से इनकी मित्रता होती है । गरीबी व तंगी की पीड़ा लेखक को यहाँ भी झेलनी पड़ी । न खाने के लिए अन्न, न पहनने के लिए उचित कपड़े थे, मित्र के कारण उन्हें शर्ट-पैंट पहनने को मिल रहे थे ।

- -

1. जूठन : पृ. 147
2. अक्करमाशी : पृ. 117

लेखक के शब्दों में "कालेज की दुनिया में हमारी गरीबी फबती नहीं थी । गरीबी का दु:ख गहरा होता है । यह दु:ख ही आदमी को अमर्यादा बताता है । दुख मनुष्य को मनुष्य के रूप में खडा कर देता है । जिसके दुख की जड़े गहरी होती है, वह मनुष्य उतने ही दृढ़ चरित्र का होता है दुख और दरिद्रता को झेलते हुए हम शिक्षा ग्रहण कर रहे थे ।"[1]

विवाह के समय शरण के "अकरमाशी" होने के कारण कोई लड़की नहीं मिल रही थी लोगों : "हम खानदानी लोग हैं, हमारा खानदान बारहमाशी है हमें खानदानी लड़का ही चाहिए । हमें ऐसे वैसे लड़के नहीं चाहिए । लड़का ठीक है तो क्या हुआ ? पर है तो अकरमाशी । मैं अकरमाशी हूँ इसका पता ~~है~~ उन्हें लग चुका था । जनाबाई की बातें कलेजे को छेड़ रही थी । मानो भरे चौक में किसी ने चाबुक मार दिया हो ।"[2] अंतत: कुसुम लड़की से शरण का विवाह हुआ ।

कुसुम से विवाह हो जाने पर भी लोग उसे शरण के यहां नहीं भेजते थे क्योंकि वह अकरमाशी था । काफी जद्दोजहद के बाद लेखक कुसुम को अपने घर ला पाया ।

लेखक अहमदपुर में टेलिफोन ऑपरेटर पद पर नियुक्त होते है पर नामांतर आन्दोलन के कारण हुए दंगे फसाद के फलस्वरूप यहां उन्हें अपनी जाति छुपानी पड़ी । शरण लिखते हैं "कि मेरी जाति का पता चल जाए तो लोग,

---

1. अकरमाशी : पृ. 118
2. अकरमाशी : पृ. 124

मुझे घर से बाहर कर देंगे, मुझे मारेंगे, मेरी पत्नी को सताएँगे - यह सोचकर मैं भयभीत होने लगा । साथ में बहन बनी भी थी ।मुझे अपनी इज्जत का डर था ।"[1]

जाति छुपाना वस्तुत: लेखक के लिए जरूरी था, क्योंकि जाति के कारण हर कोई उन्हें अपमानित व पीड़ित करने से नहीं चूकता था । जहाँ इन्हें महार होने की पीड़ा झेलनी पड़ी तो दूसरी ओर संतामाय व दादा के सम्बन्ध के कारण भी तकलीफ होती थी, क्योंकि दादा मुसलमान था संतामाय हिन्दू अछूत थी । लेखक के शब्दों में "संतामाय - दादा की एक और तकलीफ हमें होती । पति की मृत्यु के बाद संतामाय माथे पर बिंदी नहीं लगाती थी । मंगलसूत्र भी नहीं पहनती । इस कारण वह विधवा लगती । पर साथ में दादा पति की तरह रहते । पड़ोस की स्त्रियाँ पत्नी कुसुम से उन दोनों का रिश्ता पूछती । एक पड़ोसन ने तो संतामाय के लिए सिन्दूर भिजवा दिया । भूत-काल से हम लाजित हो जाते । महारोगियों के कत्लो के भाँति हम इस भूतकाल को छिपा रहे थे ।"[2]

यही नहीं, लेखक की बहनों का विवाह भी टूट जाता है क्योंकि "मसा माँ महार जाति की है, दलित है, इसका इन्हें पता चल गया था । नई-नई शादी इस तरह टूट गई, गुड़ियों की शादी तरह । इंदिरा अब तीसरी में पढ़ रही थी और पमी जलावन इकट्ठे करती घूम रही थी दोनों के माथे सफेद-सफेद थे ।"[3]

- -

1. अक्करमाशी : पृ. 145
2. अक्करमाशी : पृ. 146
3. अक्करमाशी : पृ. 153

लेखक की बदली जब लातुर में हुई तो इन्हें "महार" होने के कारण कहीं भी मकान नहीं मिलता था । विवश होकर भीमनगर (श्मशान भूमि) में उसे रहना पड़ा । क्योंकि लोग मुसलमान व महारों से कतराते थे उनके शब्दों में : "इस भीमनगर में नींद लेने वाले अनेक लोग हैं झोंपड़ियों को स्पर्श करती हुई यह सड़क । दूर से दिखलाई देने वाला वह धुरा । इस सुनसान मध्यरात्री में मैं प्रतीक्षा कर रहूँ किसी प्रेषित की, किसी देवदूत की । कम से कम श्मशान में स्थित कोई शरारती भूत तो आ जाए । पर ऐसा कुछ भी नहीं होता । सिवा कुत्तों के भोंकने की आवाज के ।"[1]

इस प्रकार वाल्मीकि जी की ही तरह शरण भी बचपन से ही अनेक दंश व घुटन को लेकर अपना जीवन व्यतीत करते रहे हैं । अत्याचार के खिलाफ उठ खड़े होने की ललक इनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है ।

अपने जीवन का लगभग मुआयना करते हुए शरण ने लिखा है कि "जीवन की भी ऐसी ही स्थिति है चढ़ाव - उतार । यह कितनी ऊँचाई कि ऊपर देखूँ कि सिर पर की टोपी नीचे गिर जाती है । और यह कितनी गहराई कि नीचे देखूँ कि आँखों में अँधेरा छा जाता है ।"[2]

समानता :

ओमप्रकाश वाल्मीकि व शरण कुमार लिंबाले की जीवन अवस्था में बहुत कुछ समानताएं है हालाँकि दोनों का जन्म अलग-अलग प्रदेश में हुआ । "वाल्मीकि" का जन्म उत्तरप्रदेश में तो 'लिंबाले' का जन्म कर्नाटक में । दोनों ही

---

1. अक्करमाशी : पृ. 151
2. अक्करमाशी : पृ. 154

दलित समुदाय से संबंधित हैं । दोनों लेखकों को गंदगीपूर्ण माहोल में रहना पड़ा, शिक्षकों की निर्दयता सहनी पड़ी । स्कूल को लीपना व सफाई करना स्कूल के विद्यार्थीयों की छींटाकशी सहना, गंदगी से परिपूर्ण पानी पीना, तथा जूठन आदि स्थितियाँ उभयनिष्ठ रही है ।

"सूअर" दोनों लेखकों की जिन्दगी का अहम हिस्सा रहा है । वाल्मीकि जी जहाँ अपने बाबा के साथ मृत बैल की खाल उतारने जाते थे उनके शब्दों में "बाबा ने खाल उतारना शुरू किया । मैं उनकी मदद कर रहा था । बाबा ने एक छुरी मेरे हाथ में पकड़ा दी बोले "धीरे-धीरे खाल अतारो अकेले से तो शाम तक नहीं उतरेगी ।"[1]

वहीं लिंबाले का कथन है कि "मैं मृत जानवर के पैर कसकर पकड़ता । पुरुष छुरे से चमड़ा निकालते । रक्त तथा माँस के कारण हाथ गीले हो जाते । इस कारण पैर बार-बार हाथ से फिसलता । और ऐसा हुआ कि गालियाँ सुननी पड़ती , फिर से पैर कसकर पकड़कर खड़ा होना पड़ता ।"[2]

अछूत होने के कारण दोनों लेखकों को धोबी इस्तरी करने व नाई बाल काटने से मना कर देते थे । कालेज में प्रवेश के वक्त जाति के कारण काफी समस्याएं उठ खड़ी होती है । रहने के लिए मकान ढूँढते वक्त दोनों लेखक अपनी जाति छुपाते हैं क्योंकि इनकी जाति के कारण इन्हें मकान नहीं मिल पाता था । सरनेम से उपजीसमस्या का सामनाभी इन्हें करना पड़ा ।

आर्थिक तंगी के कारण दोनों लेखक अपनी पढ़ाई अधूरी छोड़ देते हैं तथा बीच में ही नौकरी करने के लिए बाध्य होते है ।

- -

1. जूठन : पृ. 47
2. अक्करमाशी : पृ. 29

वैषम्यता :

ओमप्रकाश वाल्मीकि व शरणकुमार लिंबाले के जीवन स्थितियों में समानता है तो असमानताएं भी है । क्योंकि दोनों का परिवेश अलग-अलग है । ओमप्रकाश वाल्मीकि को अछूत होने का दंश मिला वहीं शरणकुमार लिंबाले को अछूत के साथ अवैध संतान होने की पीड़ा भी झेलनी पड़ी । और यही कारण इन दोनों के जीवन में कई भिन्नताएं है । व शरण्जी की पीड़ा दोहरी है ।

ओमप्रकाश वाल्मीकि को घर का सम्पूर्ण सहयोग मिला है । बाप का स्नेह, माँ की ममता । पिता हर समय लेखक का संबल थे "जाति" सुधारनी है", का सम्बोधन हर वक्त लेखक को एक नई प्रेरणा देता था। स्कूल में दाखिले के समय हो या कालेज के प्रवेश के समय, हर वक्त लेखक को प्रोत्साहन मिलता था । वहीं शरण कुमार लिंबाले का जन्म अछूत माँ, सवर्ण पिता एवं मुसलमान सम्बन्धियों के बीच हुआ । ऐसे में उन्हें प्रोत्साहित करने वाले कम ही थे ।

बचपन से ओमप्रकाश वाल्मीकि पढ़ाई की ओर अग्रसर रहे । उन्होंने स्वीकारा है कि "आठवीं कक्षा में पहुंचते - पहुंचते शरतचन्द्र, प्रेमचन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर को पढ़ डाला था । शरतचन्द्र के पात्रों ने मेरे बालमन को बहुत गहरे तक छुआ था पढ़ने का एक सिलसिला आरंभ हो गया था ।"[1] यही नहीं साहित्य के संस्कार भी लेखक पर पड़ने लगे "अनपढ़ अछूत परिवार में जन्में इस बेटे ने अपनी अनपढ़ माँ को "आल्हा", "रामायण", महाभारत से कहानियां , तोता मैना के किस्से..... जोभी मिला सुना दिया ।"[1]

- -

1. जूठन : पृ. 27

इससे भिन्न लिंबाले पर महाभारत, पुराण आदि पुस्तकों का प्रभाव था जो उन्होंने मात्र पांचवी व छठों कक्षा में पढ़ो थो । "इसी आयु में काका मुझे महाभारत, रामायण , हरिविजय, पाण्डव प्रताप, शिवलीलामृत, काशीखण्ड, मार्तण्डपुराण, नवनाथ, कथासागर, तोता-मैना, बेताली पचीसी, सिंहासन, बत्तीसी जैसीपुस्तकें पढ़ने के लिए ला देते थे । गीता रोज पढ़ता इन्द्रजाल याद करता । इला कोक शास्त्र ले आया था यह सब पांचो, छठो; कक्षा में चलता था ।"[1]

शरण कुमार लिंबाले को साहित्य पढ़ने का अवसर कम हो मिला । वे अपनी मां व बहन के परिवार से चिन्तित हो अपमान की जिन्दगी जी रहे थे । प्रारंभ में उनकी भगवान पर आस्था थी पर जैसे-जैसे इनके व्यक्तित्व विकास होता । भगवान पर आस्था कमहोने लगी । ओमप्रकाश वाल्मीकि की भगवान पर आस्था ~~क्रम होने लगती~~ कुछ प्रारंभिक वर्षों में ही थी । पर कालान्तर में भगवान पर पूर्णतया अविश्वास हो गया । उनके शब्दों में "ऐसे वातावरण में रहकर भी इन देवी देवताओं में मेरी आस्था होश संभालने यानी सोचने - समझने लायक हो जाने के बाद कभी नहीं रही । ये भगत ढोंगी लगते थे ।"[2]

जहां ओमप्रकाश वाल्मीकि को सवर्ण साथियों की सहृदयता मिली वहीं शरणकुमार लिंबाले के पिता लिंगायत होने पर भी उन्हें सवर्ण की सहायतासे वंचित रहना पड़ा ।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था अत्यन्त क्रूर है । यह मनुष्य को उसके गुण को बजाय जाति के कारण

---

1. अक्करमाशी : पृ. 72
2. जूठन - पृ. 53

महत्व देतो है । "ओमप्रकाश वाल्मीकि" एवं "शरण कुमार लिंबाले" को जोवनस्थितियों के चित्रण से गुजरते हुए यह महसूस होना स्वाभाविक है कि जब तक वर्णाश्रम व्यवस्था है तब तक हमारे समाज को प्रगति असंभव है ।

3·3 सामाजिक स्थितियों का चित्रण : साम्य : वैषम्य :

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, और समाज का प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उस पर जरूर पड़ता है । भारतीय समाज में विभिन्न, भाषा, धर्म , संस्कृति - सभ्यता व जाति के लोग हैं । इनमें जाति समस्त सामाजिक जोवन पर अपना सर्वाधिक प्रभाव डालती है । मनुष्य की जाति जन्म पर आधारित है । जन्मपरक असमानताओं पर आधारित जाति मनुष्य को मनुष्य से अलग करती है । इन जातियों में मुख्यतया दो प्रकार की जाति लक्षित होती है प्रथम जाति, द्वितीय निम्न जाति । प्रथम जाति में सवर्ण हैं, तो निम्न जाति में दलित अछूत हैं । निम्न जाति के होने के कारण दलितों का परिवेश रहन-सहन आदि भी अलग होता है । मनुष्य होते हुए भी इन्हें गाँव के बाहर रहनापड़ता है, गंदा पानी पीनापड़ता है ।

इसी तथाकथित निम्न जाति में जन्म लेने वाले शरण कुमार लिंबाले व ओमप्रकाश वाल्मीकि का जोवन "अक्करमाशी" एवं "जूठन" में अंकित है ।

ओमप्रकाश वाल्मीकि को "चूहड" (दलित जाति) जाति के होने के कारण गाँव से दूर अलग बस्ती में रहना पड़ता था । उनके शब्दों में "अस्पृश्यता का ऐसा माहोल कुत्ते-बिल्ली, गाय-भैंस, को छूना बुरा नहीं था लेकिन यदि चूहडे का स्पर्श हो जाए तो पाप लग जाता था । सामाजिक स्तर पर इनसानी

दर्जा नहीं था । वे सिर्फ जरूरत की वस्तु थे, काम पूरा होते ही उपयोग खत्म । इस्तेमाल करो, दूर फेंको ।"[1]

सूअर को पालना, खाना उनकी मजबूरी थी, क्योंकि सूअर के बिना इनका हर काम अधूरा रहता था । इनकी जाति में उन दिनों सूअर सामाजिक समृद्धि का प्रतीक माना जाता था लेखक ने स्वीकारा है कि "सूअर हमारी जिन्दगी का अहम हिस्सा था । शादी-ब्याह, बीमारी, जीवन-मृत्यु सभी में सूअर की महत्ता थी । यहाँ तक कि पूजा-अर्चना भी सूअर के बिना अधूरी थी आँगन में घूमते, सूअर गंदगी का प्रतीक नहीं बल्कि सामाजिक समृद्धि के प्रतीक थे, जो आज भी वैसे ही हैं ।"[2]

मुसलमान (तगा) लोग भी हिन्दुओं (सवर्ण) की तरह लेखक को तंग किया करते थे । तगाओं के बच्चे हो या शिक्षक दोनों से ही उन्हें हमेशा प्रताड़ना मिलती थी : "बरला गाँव में कुछ मुसलमान त्यागी भी थे, त्यागियों को तगा भी कहते थे, मुसलमान तगाओं का व्यवहार भी हिन्दुओं जैसा ही था कभी कोई अच्छा साफ-सुथरा कपड़ा पहनकर निकालों तो फब्तियाँ सुननी पड़ती थी ऐसी फब्तियाँ जो तीर की तरह भीतर तक चुभ जाती थी ऐसा हमेशा होता था साफ-सुथरे कपड़े पहनकर कक्षा में जाओ तो साथ के लड़के कहते अबे "चूहड़े" का नया कपड़े पहनकर आया है " मैले कपड़े पहनकर जाओ तो कहते अबे चूहडे के दूर हट बदबू आ रही है ।"[3]

लोग किसी न किसी रूप में इन पर छींटा कशी करने से बाज नहीं आते थे और लेखक को अक्सर अपमानित होना पड़ता था । इतनाही नहीं,

- -

1. जूठन : पृ. 12
2. जूठन : पृ. 24
3. जूठन : पृ. 13

धोबी लेखक के कपड़े इस्तरी करने से मना कर देता था क्योंकि धोबी को डर रहता था कि कहीं न तगाओं से बैर न हो जाए जिससे उनकी जीविका चली जाएगी । "हम "चूहड़े-चमारों" के कपड़े नहीं धोते, न ही इस्तरी करते हैं । जो तेरे कपड़े पे इस्तरी कर देंगे तो तगा हमसे कपड़े न धुलवाएंगे, म्हारी तो रोजी-रोटी चली जा गी, उससे साफ-साफ जबाव दे दिया था ।"[1]

वाल्मीकि को पिताके कारण परिवार की सघनता विरासत में मिली थी । सभी लोग मिल-जुल कर साथ रहते थे अलग हो जाने पर भी दु:ख-दर्द" के समय हमेशा ही एक हो जाया करते थे, जिससे संयुक्त परिवार का बोध होता था ।

सामाजिक दमन का ऐसा जाल, जहां बेगारी का काम न करने पर लाठियों से पीटा जाता हो, कई प्रकार के अत्याचार किये जाते थे । अत्याचार का विरोध न करने की क्षमता के कारण, मजबूरन लोग गाँव छोड़ कर चले जाते थे क्योंकि लेखक शब्दों में "गाँव की धरती जब बाँझ होने लगे , तो उसमें खाद-पानी डालने की हिम्मत छूट जाती है अपना गाँव जब अपना न रह जाए तो लगाव कैसा ?"[2]

वाल्मीकि जीके समाज में अछूतों को इतना अधिकार नहीं था कि वे सवर्ण के बर्तनों में खाएं क्योंकि सवर्ण इनका स्पर्श करना पाप समझते थे । इनसे ऐसा व्यवहार करते थे जैसे अछूत मनुष्य छूत की बीमारी हो ।

- -

1. जूठन : पृ. 28
2. जूठन : पृ. 52

भारतीय समाज में प्रेम से बढ़कर जाति का महत्व है । जाति के कारण प्रेम भी डगमगा जाता है, क्योंकि जाति का बंधन इतना मजबूत है कि प्रेम भी शून्य हो जाता । "जूठन" में प्रसंग आया है कि जाति के कारण मंजू अपने कार्ड पर लेखक का नाम नहीं लिखती है क्योंकि उसे शादी टूटने का भय था ।

गरीबी का हाल यह है कि दलितों के यहां जूठन में मिली पूरियों को सुखा-सुखा कर कई दिनों तक खाई जाती थी । घर पर सभी को मजदूरी करनी पड़ती, मां, पिता, भाई, बहन, भाभी. सभी को । फिर भी बने खाकर या मांड पी कर अपनी भूख मिटानी पड़ती थी । मांड (चावल का पानी) इनके लिए दूध समान था क्योंकि "मांड पीने की यह आदत किसी शौक या फैशन की देन नहीं थी । अभावों और फाकों से बचने की मजबूरी थी । फेंक देने वाली चीज हमारी भूख मिटाने वाली थी ।"[1] मांड दलितों का स्वादिष्ट भोजन है । मांड के लिए लोग गालियां देते, मारते थे पर भूख को मिटाने व पेट भरने के लिए यह अपमान भी सहन कर लेते थे ।

वाल्मीकि जी अनेक प्रकार की प्रताड़ना झेलते हुए अपने आप में अन्तर्मुखी हो गए थे । शिक्षक स्कूल में पढ़ाने के बजाय गालियां देने से नहीं चूकते लातों-घूसों से स्वागत करते "अबे ओ चूहडे के, मादर चोद कहां घुस गया ... अपनी मां....."[2] आदि कहकर बार-बार अपमानित करते थे, क्योंकि शिक्षकों को यह बात खलती थी "ले जा इसे यहां से..... चूहड़ा हो के पढ़ने चला है... जा चला जा.... नहीं तो हाड - गोड़ तुड़वा दूंगा ।"[3]

---

1. जूठन : पृ. 34
2. जूठन : पृ. 15
3. जूठन : पृ. 16

अछूतों को पढ़ना - लिखना नहीं चाहिए ऐसी शिक्षकों की भावना रहती थी । हर समय प्रताड़ित व अपमानित किया करते थे । सांस्कृतिक क्रियाकलापों से उन्हें दूर रखा जाता था । यहां तक की प्रेक्टिकल आदि में भी कम अंक दिये जाते थे । प्रयोगशाला में इन्हें आने तक नहीं दिया जाता था । इस प्रकार के कई प्रकार अनुभव लेखक ने बयान किए हैं ।

दलितों की बस्ती में बीमार पड़ने पर अक्सर किसी भूत के प्रभाव का जिक्र करके झात भूत पकड़ने की क्रियाएं करता था जिसके बदले में देवी देविताओं पर सुअर, मुर्गे, बकरे, और शराब - चढ़ाई जाती थी । प्रत्येक घर में उन देवताओं की पूजा होती थी । ये देवता हिन्दू देवी-देवताओं से अलग होते हैं, जिनके नाम किसी पोथी पुराण में ढूँढने से नहीं मिलेंगे ।"[1]

हिन्दू होते हुए भी किसी भी देवता की पूजा नहीं होती सिवाय "माई-मदारन" के अलावा । न दीपावली में लक्ष्मी की, न ही जन्माष्टमी में श्रीकृष्ण की पूजा की जाती थी । केवल "पौन" "पूजा "जहारपीर" की होती थी, "मदारन-माई" के नाम से सूअर का बच्चा बलि चढ़ाया जाता था व शराब की बोतल भी । बस यही थे इनके देवी-देवता व पूजा, क्योंकि निम्न जाति को मन्दिर में प्रवेश की अनुमति नहीं थी ।

शरण कुमार लिंबाले द्वारा जिन सामाजिक स्थितियों का चित्रण किया गया है, वे दुर्लभ हैं । उनके गांव में सवर्ण गांव में रहते थे तथा निम्न जाति के लोग गांव के बाहर । स्त्रियों का विवाह किसी एक से होता पर

---

1. जूठन : पृ. 31

उनके छोड़ देने से किसी अन्य पुरूष का हाथ थाम लेना बुरी बात नहीं थी । छोड़ी हुई स्त्रियाँ अन्य पुरूष की रखैल बन कर रहती थी पुरूष दो या तीन से अधिक विवाह कर सकते थे "विठ्ठल कांबले ने दूसरा विवाह किया । पुरूषों को क्या, कितनी बार भी पान खाकर थूक सकता है पर औरत जात एक बार तबाह हुई कि हो गया । मसा मां की शादी कैसे होगी ? घर में खाने के लिए दाना नहीं । परित्यक्ता खुली औरत । सिर पर स्थित आँचल कंधे से खिसक गया था ।"[1]

शरण जी के समाज में जाति में भी अवैध सन्तान होना अपराध था । वर्ण श्रेष्ठता के कारण सवर्ण पुरूष दलित स्त्रियों को सतत भोगते रहते थे जैसे यह उनका अधिकार हो लेखक शब्दों में : "जिनके पास वर्ण श्रेष्ठत्व से प्राप्त सत्ता तथा वंश परम्परा से प्राप्त सम्पत्ति रही है उन्होंने यहाँ की दलित स्त्रियों को सत्तत भोगा है । देहात-देहात के जमींदारों, पटेलों, ने खोतों में करने वाली दलित स्त्रियों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया है । रंडियों की तरह उन्होंने उपभोग किया है । दलितों की लड़कियाँ इनकी वासना का शिकार होती हैं । इनके द्वारा किए गए स्वैसचार से संतति जन्म लेती रहती है । जमींदार के इशारे पर जीने वाला घर हर गाँव में होता है । पूरा गाँव इस घर को पटेल की रण्डी का घर कहता रहता है । इस स्त्री की संतति की पहचान पटेल की रंडुडी के बच्चों के रूप में बनती है । पटेल की दया पर, खुश होकर ही जीने में उनके जीवन की सार्थकता होती है यों बदले में उन्हें मिलता ही क्या है ?"[2]

समस्या शरण जी के सामने आती है । पिता के होते हुए भी उसे पिता न कह पाना काफी दु:खदायी स्थिति थी । एक सवर्ण द्वारा उत्पन्न

---

1. अक्करमाशी : पृ. 57
2. अक्करमाशी : पृ. 59

होने पर भी x शरण सवर्ण नहीं बन सके । "मैं मनुष्य था सिवा मनुष्य शरीर के मेरे पास था ही क्या ? यहाँ इस देश में मनुष्य जाति, बिरादरी और धर्म से पहचाना जाता है । बाप से पहचाना जाता । मेरे पास बाप का नाम नहीं धर्म और जाति नहीं, न मैं किसी बाप का उत्तराधिकारी हूँ ।"[1]

शरणजी के गाँव में भी मृत जानवरों को ढोना का कार्य निम्न वर्ग को ही करना पड़ता था "गाँव में जानवर मरते ही उसका मालिक बस्ती में आता जो हकदार होते, उन्हें संदेशा देता । संदेशा मिलते ही उस परिवार के पुरुष उसे लाने जाते । जानवर छोटा होता तो कंधे पर ही उसे उठा लाते । बड़ी गाय-भैंस हो तो बैलगाड़ी में लाते । दो आगे चलते दो पीछे । हिन्दू लोग गाय को माँ के रूप में पूजते है । माँ की मृत्यु के बाद उसका क्रिया-कर्म करते हैं, परन्तु इसी गाय की मृत्यु के बाद महारों को बुलाते हैं । जिसकी गाय मर जाती है, उसकी मालकिन रोती रहती है । महार गाय की लाश को उठाते, बैलगाड़ी में डालते है, मालकिन इस काम के लिए ज्वार देती है ।"[2]

जिस मनुष्य का सवर्ण स्पर्श भी नहीं करते थे उन्हीं के द्वारा उनकी गायों को उठाने के काम करवाते थे । उन्हीं की बनाई शराब पीते । उनका पकाया मांस खाते । शरण वस्तुत: सवर्णों के दोहरे चरित्र पर चोट करना चाहते हैं ।

विद्यालय के सन्दर्भ में शरण जी अनुभव वाल्मीकि जी की ही तरह अत्यन्त कटु है : "एक ही स्कूल में अनेक जाति की इकाइयाँ थी । हमारी बस्ती का सम्बन्ध गाँव से नहीं था, मानो गाँव का विभाजन कर हमें गाँव से तोड़ा

---

1. अक्करमाशी : पृ. 86
2. अक्करमाशी : पृ. 28

गया हो । बचपन से यहाँ जोते हुए और रोते हुए भी मैं पराए की तरह रहा । उम्र के साथ यह परायापन बढ़ता ही गया था ।"[1]

शिक्षक ही नहीं विद्यार्थी भी उन्हें छेड़ने में पीछे नहीं रहते थे । थप्पड़ व कंकड़ों से मारना, महार ढेड, कह कर चिढ़ाना, आम बात थी । मन्दिर में पोथी पढ़ने वाला पण्डित, जब लेखक को मन्दिर प्रवेश करते देखता है तो भड़क उठता है और साथ ही अपने बेटे को कहता है "इनके साथ खेल मत । मुझे इस गाँव में रहना है तुझे यह क्या सूझी है ? मेरा मुँह काला करेगा क्या ? आज तक मुझे किसी ने कुछ नहीं कहा है । पैर काटूँगा तेरे "चंदमा का बाप चिल्ला रहा था । मतलब हमारा मन्दिर प्रवेश अपराध था हमें अपनी मरजाद से जीना चाहिए यहाँ अछूतों का, मन्दिर में प्रवेश वर्जित है ।"[2]

अशिक्षा की वजह से शरण जी के समुदाय में भी धार्मिक अंधविश्वास का बोलबाला था : "गाँव में कॉलरा को बीमारी फैलती । हम उसे मरी आई की बीमारी कहते । कॉलरा में काफी लोग मरते मरी आई की अवकृपा जिस पर होती, उसके क्रिया क्रम की तैयारी करनी पड़ती । कायर करके मरीआई को शान्त करना पड़ता । मरी आई की शान्ति के लिए बैल काटा जाता । पोतराज नाचता । शाम को मरीआई का रथ खींचा जाता । मरीआई को गाँव के बाहर ले जाकर छोड़ते ।"[3]

---

1. अक्करमाशी : पृ. 16
2. अक्करमाशी : पृ. 89
3. अक्करमाशी : पृ. 70

बोमारी भले अधिक हो पर इलाज नहीं किया जाता । बस चूल्हे को राख या दीवार में से मिट्टी निकाल कर माथे पर लगाया जाता । शरण के गाँव में भानामती के कई ढोंग करने वाले लोग थे । सभी लोग इन पर विश्वास करते थे । भानामती करने वाले भगत ताबोज, मंत्रित राख आदि देकर पैसे वसूल करते थे स्वयं लेखक लड़कियों को आकर्षित करने के लिए मोहनी मंत्र सीखते थे । लेखक की नानी संतामाय मंगल शुक्र का उपवास करती तो दादा लगिनशा का गुरुवार उपवास करते तथा नमाज़ पढ़ते । एक ही घर में अलग-अलग पूजा का होती थी ।

गाँव में दशहरे का त्यौहार मनाया जाता था और परड्या माँगी जाती थी लेखक के शब्दों में "दशहरे को लोग परड्या भरते । मनौतियाँ पूरी करते । देवी अंबा की मूर्ति के सामने मुर्गे काटते । संतामाय नवरात्र में नौ दिन उपवास करती । दशहरे के दिन-दिन भर गाँव में घूमती । माँगने की परड़ी को अधिक महत्व दिया जाता था । पुतलामाय अथवा जेठिग्या भी परड़ी लिए गाँव में घूमते ।"[1]

इस प्रकार कई प्रकार की कुरीतियाँ प्रचलित थी । शरण कुमार लिंबाले व ओमप्रकाश वाल्मीकि का लेखन सामाजिक विषमताओं एवं यातनाओं का पर्दा-फाश करता है ।

शरण को जीवन में अछूत के साथ-साथ अवैध संतान होने की प्रताड़ना भी झेलनी पड़ती है । और यह अंत तक कायम है । कर्नाटक व महाराष्ट्र के

---

1. अक्करमाशी : पृ. 77

सीमा-विवादों के कारण भाषा बोली से संबंधित भी उनके सामने रहे हैं । शरण लिखते हैं "गाँव, भाषा, माँ, पिता, जाति इन सभी दृष्टियों से मैं खण्डित हूँ । गुमशुदा व्यक्तित्व के लिए जीने वाला..... मेरे अस्तित्व को जारज कहकर सतत अपमानित किया गया है । ब्राह्मणों से लेकर शूद्रों तक सभी अपने खानदानी अभिमान और खानदानी अस्मिता पर हो बलात्कार हुआ है बलात्कारित स्त्री की तरह मेरा यह जीवन । यहाँ की नीति ने मेरे साथ एक अपराधी की तरह ही आचरण किया है मेरे जन्म को अनैतिक घोषित किया गया है ।"[1]

स्पष्ट ही लेखक के जन्म को अनैतिक घोषित करने वाले वही सवर्ण हैं जिन्होंने उसकी माँ को भोगा है । जिन्होंने इन्हें एक रखैल का नाम दिया व पिता के हक से वंचित किया । एक सघन परिवार माँ, बड़े दादी बहनें सभी हैं पर सभी किसी न किसी सवर्ण की रखैल हैं ।

पेट की आग बुझाने के लिए इस खण्डित परिवार को शराब का धंधा करना पड़ता है, हमाली करनी पड़ती , दिन भर भूखा रहकर बोझा ढोना पड़ता है, खजूर के काँटों को चुभन सहन करनी पड़ती है घर-घर जाकर "जोगवा" माँगना पड़ता है ।

वस्तुत: शरण का जीवन अछूत एवं सवर्ण, मुसलमान जैसे चक्रवात में फँसा रहा है । पिता सवर्ण, माँ अछूत, नाना मुसलमान आखिर वह कौन सा धर्म अपनाएँ ? माँ झोंपड़ी में रहती पिता कोठी में । वह किधर जाए । शरण लिखते हैं : "मैं कभी बासल- गाँव जाऊँ तो क्या पिता मुझे अपने घर में लेंगे ?

---

1. अक्करमाशी : पृ. 7

क्या उनकी पत्नी मुझे रोटी देंगी ? मेरे पिता कोठी में मां झोंपड़ी में , मैं सड़क पर । अंत में मैं मरूंगा कहां ? जीऊंगा कहां ? मेरी जड़े कहां है ?"[1]

शरण को अपने जीवन तथा अपने परिवार एवं समाज की स्थिति का मर्मान्तिक बोध है । वे अन्यत्र लिखते हैं : "हम अछूत हैं, इसे स्वीकार कर हम जी रहे थे, सवर्णों में से जो दो-चार व्यक्ति हमारी अछूत बस्ती में आते वे या तो शराब पीने के लिए या बस्ती में जो दो-एक परित्यक्ताएं थी उनके संग मजा मारने अथवा मजदूर इकट्ठा करने के लिए आते - गांव और हमारी बस्ती का इतना ही सम्बन्ध था ।"[2]

वाल्मीकि जी को शिक्षकों की प्रताड़ना काफी झेलनी पड़ी है । सच तो यह है कि लेखक ने विद्यालय का जैसा वर्णन किया है उसे हमारी शिक्षा प्रणाली में निहित जातिवादी मानसिकता का पता चलता है ।

शरण जी के जीवन में भी इस प्रकार की घटनाएं घटित होती रही । पर अपनी पढ़ाई ठीक ढंग से नहीं कर पाए । पिता के नाम न लिखने पर जो दंश इन्हें मिलता था उसका वर्णन अक्करमाशी में है । जिस इन्सान को अपनी अस्ल का पता नहीं, वह अपने को क्या जानता ? पर मुल्ला गुरूजी के कारण थोड़ी राहत उन्हें महसूस होती रही ।

समाज में फैली जातिवादी मानसिकता के कारण दोनों लेखकों को प्रेम के बावजूद विवाह करने में कठिनाई हुई है । वाल्मीकि जहां अनुसूचित जाति होने

---

1. अक्करमाशी : पृ. 90
2. हंस : पृ. 32 (मार्च 1994)

के कारण सविता से विवाह नहीं कर पाये । वहीं लिंबाले शेवता से अक्करमाशी होने के कारण विवाह नहीं कर पाते ।

वाल्मीकि शिक्षा के दवारा सामाजिक संघाँड से उपर उठते है वही शरणकुमार लिंबाले उपर उठते हुए भी उतना उपर नहीं उठ पाते । लिंबाले के मित्र उन्हीं को, जाति से सम्बन्धित थे उन्हें इतना भी अधिकार प्राप्त न था कि वे मातंग समाज वाले लड़कों से मित्रता करें । पर ओमप्रकाश वाल्मीकि के अधिकतर मित्र सवर्ण जाति से सम्बन्धित थे । इनके सम्पर्क में अनेक ऐसे व्यक्तियों का आगमन हुआ जैसे : यशवंत राव, नैमिशराय, भदंत आनन्द कौसल्यायन, होरा लाल वर्मा, किशन शर्मा आदि ।

3·4 व्यवस्था के प्रति आक्रोश :

भारतीय वर्ण - व्यवस्था ने "अछूतों" को निम्न जाति, माना तथा इन्हें अस्पृश्य बता कर गाँव के बाहर खदेड़ दिया । इन्हें तिरस्कृत व अपमानित किया गया । सवर्ण इनकी छाया व स्पर्श को अस्पृश्य मानकर इन्हें दूर रखते हैं । इन्हें प्रताड़ित करने के लिए कई हथकण्डे अपनाते हैं । सवर्ण चाहते हैं कि दलित अपने-आपको अभद्र व अमंगल रखे । कुत्ते व सूअर इनकी सम्पत्ति बने, मिट्टी के बर्तनों में अन्न ले, कफन के रूप में कपड़ा धारण करें । सवर्ण इन हथकण्डों को ईश्वर निर्मित, व्यवस्था कहकर अपनी वर्ण-व्यवस्था को बनाये रखना चाहते हैं ।

बाबा साहेब अम्बेडकर ने सदियों से चली आ रही इस व्यवस्था को तोड़ने के लिए प्रचार किया । "संगठित हो", "शिक्षित बनो" और "संघर्ष करो" का बीज मन्त्र इनके लिए एक नई प्रेरणा बना । जिससे सदियों से चली आ रही क्रूरतम व्यवस्था के प्रति अपना आक्रोश व विद्रोह लेखकों ने अपने कलम दवारा प्रकट किया । ऐसे ही लेखकों में श्री ओमप्रकाश वाल्मीकि व शरण कुमार लिंबाले जैसे महत्वपूर्ण लेखक शामिल हैं ।

इनकी आत्मकथाएं शोषण की पराकाष्ठा को चीरती हुई, प्रस्फुटित हुई है इनका जीवन भोगा हुआ कटु यथार्थ जूठन एवं अक्करमाशी में व्यक्त है । जिनसे मनुष्य की आत्मा विचलित हो उठती है । इनका आक्रोश व विद्रोह कल्पना नहीं बल्कि वास्तविकता है जो सामाजिक संघाँड को प्रस्तुत करती है । शरण जी ने ठीक लिखा है कि "दुर्बलों पर आक्रमण करते समय, उनका शोषण करते समय सबलों ने हमेशा उनकी अबलाओं पर अत्याचार किए हैं, जिन्हें यहां की सत्ता, सम्पत्ति, समाज संस्कृति और धर्म ने समर्थन दिया है, परन्तु उस स्त्री का क्या होगा ? उसे तो "बलात्कार" अपने पेट में बढ़ाना पड़ता है । उस बलात्कार को जन्म देना पड़ता है । उस बलात्कार का पालन -पोषण करना पड़ता है । और यह बलात्कार एक जीवन जीने लगता है । उसी जीवन की वेदना इस आत्मकथा में है । मेरे शब्द मेरे अनुभव हैं, मेरे जीवन के अनुभवों को जीवन से घटा दिया जाए तो बचेगा ? केवल एक सजीव प्रेत.....".[1]
शरण कुमार लिंबाले की आत्मकथा के अंश इस सत्यता को प्रमाणित करते हैं कि अछूत मनुष्य का जीवन अवैध है । अछूत मनुष्य मात्र शोषण के लिए पैदा हुआ । उसे जीने का हक है, न धर्म अपनाने का । समाज में स्थित भेद-भाव के कारण लेखक विचलित है । वह कहता है "धर्म से मैं भी हिन्दू हूं, मैं भी मनुष्य । गाँव के अन्य लड़के भगवान की मूर्ति के निकट जा सकते हैं, कक्षा में पढ़ाया जाता जाता था कि बच्चे ईश्वर द्वारा निर्मित फूल हैं तो क्या हम भगवान द्वारा निर्मित फूल नहीं हैं ?"[2]

बच्चे भगवान का रूप होते हैं पर अछूत के बच्चे भगवान का रूप नहीं ? उन्हें जन्मजात ही अछूत माना गया । उन्हें अपनी इन्हीं अस्पृश्यता को लेकर जीने

---

1. अक्करमाशी : पृ. 8
2. अक्करमाशी : पृ. 16

के लिए बाध्य किया गया है । सवर्ण को महारों को रोटी अच्छी नहीं लगती पर दलित स्त्रियां अच्छी लगती हैं । शराब अच्छी लगती है । सवर्ण पुरुष दलित स्त्री को भोगता है पर उनसे पैदा हुई सन्तान को अपनाता नहीं है । ऐसे में लेखक का मन चीत्कार कर उठता है, "मां क्यों तैयार हुई इस बलात्कार को ? क्यों पचाया उसने इस अनैतिक संभोग को नौ मास नौ दिन भीतर ही भीतर ? किसलिए विकसित होने दिया उसने ऐसा गर्भ ? कितनी नजरों ने छला होगा उसे व्यभिचारिणी कहकर । मेरे जन्म के बाद किसने बांटी होगी मिठाई ? किसने लाड़ किए मुझ पर ? किसने दी होगी साड़ी-चोली मेरी मां को ? किसने किया होगा मेरा नामकरण संस्कार ? मेरा खानदान कौन सा ? मैं किस वंश का दिया ? किस अधिकारी पिता का मैं पुत्र ?"[1]

एक तरह से लेखक यहां इनअनैतिक सम्बन्धों का विरोध कर रहा है । वह समाज के सम्मुख एकप्रश्न रखता है ? "क्या कभी हम लोग ठोक-ठाक पहन और खा सकेंगे ? क्या कभी पेट-भर मीठी चीजें खा सकेंगे ? इस काले पत्थर की कोठी से हमारा कहां संबंध है ? इस पटेल की हम कौन-सी सन्तान हैं ? पटेल से जन्म लेकर भी इस कोठी में हमें क्यों नहीं रहने दिया जाता ? ये खानदानी दीवारें क्यों नहीं स्वीकार करती मुझे ? यह कोठी मौन क्यों है ? यह गूंगी क्यों हो गई है ? इसकी जीभ कहां लापता हो गई है ?[2]

शरण की अनैतिक से जन्मी सन्तान को जन्म देने वाले सम्पूर्ण समाज से घृणा होती है । मां जो अनैतिक सम्बन्ध को स्वीकारती है । पिता इस अनैतिकता को बढ़ावा देता है उस समय माता-पिता भविष्य की चिन्ता नहीं

---

1. अक्करमाशी : पृ. 58
2. अक्करमाशी : पृ. 80-81

करते मात्र अपना सुख देखते हैं । ऐसे समय लेखक को लगता है, मां-बाप के अन्याय के बोझ बच्चे क्यों भोगे । क्यों सहे । "क्यों नहीं मां ने उस बोज का गर्भपात करा दिया ? क्यों नहीं मार दिया मुझे तुरन्त जन्म देने के बाद ।

उस समय माता-पिता भविष्य को चिन्ता नहीं करते मात्र अपना सुख देखते हैं । ऐसे समय लेखक को लगता है, मां-बाप के अन्याय के बोझ को बच्चे क्यों भोगे, क्यों सहे । "क्यों नहीं मां ने उस बोज का गर्भपात करा दिया ? क्यों नहीं मार दिया मुझे तुरन्त जन्म देने के बाद । क्यों जिलाया मुझे इस दुनिया में ? जाति बिरादरी के परे जाकर जन्म ले चुके मेरे पोढ़ो को अपमानित क्यों किया जा रहा है ? कौन सा अपराध किया है हमने ? मुझ जैसों ने ? मां-पिता को सजा क्यों दो जा रही है ?"[1]

लेखक का आक्रोश यहां मां के प्रति ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण समाज के प्रति है क्योंकि सन्तान न समाज में सम्मान पाती न घर में भी अपनत्व प्राप्त कर पाता । धर्म को आड़ में भी समाज छलने से नहीं चूकता । निम्न वर्ण के मनुष्य को अपनी इच्छानुसार धर्म व जाति चुनने का भी अधिकार नहीं, क्योंकि वह अछूत है । शरण सवाल उठाते हैं कि धर्म के बना न जात-बिरादरी । मनुष्य को धर्म रोकता है, अथवा धर्म मनुष्य को ? धर्म का दायरा बड़ा है कि इन्सानियत का ? मनुष्य के लिए धर्म है कि धर्म के लिए मनुष्य ? मनुष्य धर्म को विकृत करता है अथवा धर्म मनुष्य को, धर्म, जाति और बिरादरी को त्यागकर क्या मनुष्य जी नहीं सकता ?[2]

समाज में जो धर्म निम्न जाति को दिया वही इनका धर्म क्यों ? इस प्रश्न से शरण का मन क्र भर जाता है । "क्योंकि मेरा बाप लिंगायत । उसके

---

1. अक्करमाशी : पृ. 92-93
2. अक्करमाशी : पृ. 61

दादा परदादा भी लिंगायत, इसलिए मै लिंगायत । मेरी मां अछूत, महार । इसलिए मैं भी दलित, अछूत । पर जन्म से लेकर आज तक मुझे मेरे नाना में मतलब महमूद दस्तगीर जमादार नामक मुसलमान क्यों नहीं, दादा की ममता मुझ पर अपने धर्म का हक क्यों नहीं जताती ?"[1] धर्म मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने देता । क्योंकि मनुष्य की पहचान धर्म से है मनुष्य का सम्मान धर्म से है । मनुष्य की जाति धर्म है ऐसे में लेखक का क्रोध दूषित व्यवस्था पर होना स्वाभाविक है । मनुष्य अगर अपवित्र है तो शरण के शब्दों में : "हमारे स्पर्श से पानी अपवित्र हो जाता है ना, तो नदी क्यों नहीं अपवित्र होती ? हमारे स्पर्श से अगर आदमी अपवित्र हो जाता है, तो क्यों नहीं हुई तू काली-पीली ? क्यों नहीं तेरे सिर पर की रोटियां सड़ गई ? हमें अछूत कहती हो तो दो इन प्रश्नों के उत्तर ? जब तक उत्तर नहीं दोगी, हाथ नहीं छोड़ूंगा ?"[2]

लेखक वर्ण-व्यवस्था के कर्णधारों से इन तमाम प्रश्नों के उत्तरचाहता है । वह उन वर्ण-व्यवस्था के शीर्ष पर बैठे लोगों के हाथ पकड़ता है जिसमें इस प्रकार के समाज को बनाया ।

जातिवाद गांव में ही नहीं पूरे नगर में, शहरमें है । जाति के कारण कहीं घर नहीं मिलता । क्योंकि समाज के लिए जाति व धर्म मुख्य है न कि मनुष्य ? ऐसे में लेखक कहता है कि "धर्म का बोझ कुली की तरह हम ढो रहे हैं । जात-बिरादरी का यह बोझ हम पर क्यों लादा गया है ? हम इसे क्यों नहीं निकाल फेंक सकते ? जाति, धर्म, कुल खानदान इन सारे कृत्रिम बंधनों में हम मनुष्य और मनुष्यता को ही खोते जा रहे हैं ।"[3] यह सब व्यवस्था के प्रति लेखक मन में पैदा हो रहे आक्रोश का ही प्रकटीकरण है ।

---

1. अक्करमाशी : पृ. 60
2. अक्करमाशी : पृ. 102
3. अक्करमाशी : पृ. 147

लेखक इन व्यवस्थाओं से मुकाबले के लिए व्यथित है । वह इन सब का जैसे खात्मा कर देना चाहता है : "धीरे-धीरे मुझे मृत जानवर से घृणा होने लगी । मृत जानवर का मांस खाने वालों पर गुस्सा भूत के रोग की तरह फैलने लगा । चमड़ा उतारे हुए लाललाल जानवर के मांस । हम पेशाब करते । गोबर या मिट्टी फेंकते । पर माँ गंगा माँ ऐसे मांस को भी ले जाती । धोती , पकाती । हम साथियों को इस पर गुस्सा भी आता और बुरा भी लगता । मृत जानवर का मांस कोई खाए ही नहीं -ऐसा लगता ।"[1]

पेट भरने के लिए मनुष्य को झुकना पड़ता है । अपने आप को बेचने से भी वो नहीं हिचकिचाता । पर भीउसकी भूख का कोई मोल नहीं । इस भूख के कारण उपजी विषमताओं पर जब लेखक विचारता है तो उसका कहना है "रोटी आदमी जितनी । रोटी आकाश जितनी । रोटी सूर्य की तरह प्रखर । भूखे आदमी से बड़ी । भूख सप्त पाताल से भी गहरी । आदमी रोटी जितना, भूख आदमी जितनी । पेट आदमी से गहरा । एक पेटकाअर्थ है एक पृथ्वी । पेट होता है इतना सा पूरी दुनिया खाकर उसे डकार दो । भूखन होती तो क्यों लड़ाईयां, चोरियां, मार-पीट ? पेट न होता तो क्या होता पाप-पुण्य ? क्यों देश, सीमा, नागरिक, संसद, संविधान आदि-आदि । पेटसे तो जन्म ले चुकी है दुनिया । दुनिया के संबंध मां-बाप, भाई-बहन इत्यादि इत्यादि ।"[2]

भूख के कारण ही मनुष्य चोरी करता, जानवर ढोता, मल ढोता, है । और यह रोटी भी तो सवर्ण के हाथों में है । इस रोटी के कारण सवर्ण साहुकार इनकी मजबूरी का फायदा उठाते हैं । ऐसे में लेखक का मन गरीबों से चिढ़ उठता

---

1. अक्करमाशी : पृ. 35
2. अक्करमाशी : पृ. 75

है तथा सम्पूर्ण समाज को धिक्कारने लगता : "कभी न कभी गाँव के खिलाफ जाना ही होगा । कितने दिन मौन होकर जिएँ ? कितनी पीढ़ियों को इस प्रकार की जिन्दगी जीनी होगी ? कभी तो इन सबको सताना होगा ना ।"[1]

लेखक ने वस्तुत: सम्पूर्ण व्यवस्था के प्रति अपना आक्रोश प्रकट किया है, क्योंकि यह आक्रोश समाज ने लेखक को दिया है । जन्म से पहले ही जिस समाज में जाति निर्धारित कर दी जाती है अछूत का लेबल माथे पर लिख दिया जाता है और यह जाति जन्म से लेकर मृत्यु तक पीछा नहीं छोड़ती । ऐसे में हर मनुष्य का छट पटाना स्वाभाविक है । यह विरोध अकेले लेखक का नहीं अपितु सम्पूर्ण दलित समुदाय का है जो वर्णाश्रमवादी व्यवस्था का नर्क भोगने के लिए अभिशप्त है ।

मानवीय सार को छीनकर पीड़ा देने वाला सामाजिक - व्यवस्था से उपजी अवहेलना के प्रति ओमप्रकाश वाल्मीकि का आक्रोश भी अत्यन्त प्रबल है । जिस समाज में सवर्ण लोग अछूतों को छाया से भी दूर रहते हैं तथा उन्हें बार-बार अपमानित करते हैं । पर खुद चोरी-छिपे मांस खाने व शराब पीने के लिए इनके घर आते हैं । तो इसे देखकर लेखक का मन विद्रोह से भर जाता है । वाल्मीकि लिखते हैं "ऐसे क्षणों में मुझे तमाम त्यागी याद आने लगते थे जो रात के अन्धेरे में छुप-छुप कर सूअर का गोश्त खाने भंगी-मोहल्ले में आते थे । मेरा मन करता, उन सबके नाम बता दूँ जो लोग छुप-छुपकर गोश्त खाने आते थे, वे भी दिन में सबसे छुआ-छूत बरतते थे ।"[2]

वाल्मीकि जी ने लिखा है कि उनके इलाके में अछूतों में, विवाह के पश्चात "सलाम" के लिए सवर्णों के यहाँ जाना पड़ता था और इस पीड़ा से

---

1. अक्करमाशी : पृ. 109
2. जूठन : पृ. 29

उनका मन विचलित हो उठता है । क्योंकि "सदियों से चली आ रही इस प्रथा के पार्श्व में जातीय अहम की पराकाष्ठा है समाज में जो गहरी खाई है, उसे प्रथा और गहरा बनाती है, एक साजिश है हीनता के भँवर में फंसा देने की ।"[1]

स्पष्ट ही, जाति भेद मनुष्य को मनुष्य से अलग करती है । इसके कारण जाति मुख्य होती है न कि मनुष्य ? तब ऐसे गर्हित समाज से लेखक का मन विद्रोह कर उठता है "लेकिन मन में एक उबाल सा उठता था जो कहना चाहता था मैं हिन्दू भी तो नहीं हूँ । यदि हिन्दू होता तो हिन्दू मुझसे इतनी घृणा, इतना भेद-भाव क्यों करते ? बात-बात पर जातीय बोध की हीनता से मुझे क्यों भरते ? मन में यह भी आता था कि अच्छा इन्सान बनने के लिए जरूरी क्यों है कि वह हिन्दू ही हो .... हिन्दू की क्रूरता बचपन से देखी है, सहन की है । जातीय श्रेष्ठता का मुख अभिमान बनकर कमजोर को ही क्यों मारता है ? क्यों दलितों के प्रति हिन्दू इतना निर्मम और क्रूर है ?

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि "जूठन" एवं "अक्करमाशी" के रचनाकारों में अपनेसमय की सामाजिक व्यवस्था के प्रति आक्रोश अत्यन्त प्रबल है । निश्चित रूप से इस आक्रोश के केन्द्र में इन दोनों ही लेखकों का व्यक्ति-मन है पर वह कालान्तर में वृहत्तर दिशाव्यापी आयाम का स्पर्श कर सका है ।

--

- -

1. जूठन : पृ. 45

o

o

o

o

o

o

o

o

o

o

o

o

o

उपसंहार

o

o

o

o

o

o

o

o

o

o

o

o

o

o

o

उपसंहार

साहित्य सृजन का पहला चरण है - यथार्थ अनुभव । यथार्थ के धरातल पर व्यक्ति अपनी समस्त पीड़ा, सुख. दुख आदि की अभिव्यक्ति नि:संकोच करता है । जो उसने भोगा है, जिया है, झेला है ।

रवीन्द्र वर्मा का कथन है कि "सिर्फ भोगा हुआ यथार्थ साहित्य नहीं होता, यदि ऐसा होता तो सब साहित्यकार होते या साहित्य की ज़रूरत नहीं होती, क्योंकि ऐसा मनुष्य नहीं जो बिना दु:ख भोगे ही जीवन जी ले । एक फ्रांसीसी लेखक आंद्रे मौरा की आत्मकथा का शीर्षक ही है "किसी आदमी को सुखी न कहो ।"1 (हंस पत्रिका नवम्बर-1995)

लेकिन रचनाकार विविध अनुभव की जो कुण्ठाओं, तिरस्कार, अपमान, वेदना, दुत्कार आदि से उत्पन्न है, साहित्य में पुनर्रचित करता है । क्योंकि उसे यह सब सामाजिक रूढ़ियों के कारण मिला है । तो स्वाभाविक है कि वह अपने इसी तिरस्कृत जीवनानुभव को साहित्य में उजागर करता है । आत्म कथाओं में इस प्रकार का सृजन अपनी निजी पीड़ा भूख व अपमान की व्यथा का अंकिलन प्रस्तुत करती है ।

किसी भी भाषा का साहित्य समाज-विशेष का दर्पण ही नहीं होता है अपितु नये समाज की संरचना के निर्माण की संकल्पना भी प्रस्तुत करता है और उसके निराकरण एवं समाधान के भी उपाय सुझाता है । इस दृष्टि से साहित्य एवं रचनाकार केवल सूचक या संकेत नहीं है, अपितु सजग सचेतक भी हैं ।

इसी परिप्रेक्ष्य में भारतीय दलित साहित्य की सर्जना की वैचारिक भूमिका को देखा जा सकता है स्पष्ट ही उसमें क्रान्ति व शान्ति का समन्वयकारी स्वरूप निहित है और रचनात्मकता में सामाजिक चेतना को अभिव्यक्ति है, जो संगठित एवंसंघर्षरत व्यक्ति-स्तर और समाज-स्तर पर अपना दीपक आप बन कर आत्मिक संचेतना को अपनाने की प्रेरणा देती है । वस्तुत: दलित-साहित्य संवेदना से विचार की ओर से सृजनात्मक क्रान्ति चेतना का ऐसा साहित्य है जो मानव मात्र, को मानव के रूप में मानव समाज में सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए सक्रिया संकल्पना है ।

नारी के शोषण की गाथा परम्परा से चली आ रही है । पर हिन्दू धर्म के द्वारा निर्मित वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था का शिकार भारतीय दलित नारी भी है । जो अमानुषिक, अत्याचार, अपमान और पीड़ा से गुजरती है ।

हालांकि हर स्त्री का शोषण होता है व होता आ रहा है । पर एक शोषित दलित स्त्री को शोषण, अस्पृश्यता और आर्थिकता के तिगुने अत्याचार को सहन करना पड़ता है ।

सवर्ण स्त्री को एक हद तक सामाजिक न्याय प्राप्त है पर एक दलित स्त्री सामाजिक न्याय के नामपर भी शोषित और अपमानित होती है । दलित स्त्री पर (जाति के नाम) भी शोषित और अपमानित होती है । दलित स्त्री को न तो सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक अधिकार प्राप्त है और न ही स्त्री को महत्ता ही प्राप्त है । सवर्ण पुरुष दलित स्त्री को अपनी भोग्या बनाने से हिचकिचाता नहीं, किन्तु उसे अपनी भार्या बनाने अस्वीकार करता है ।

दलित स्त्रियाँ सवर्णों द्वारा हमेशा ही मंथित होती आ रही है । पर उसे मंथन में अमृत की बजाय विष ही मिला , जो आज भी देवदासी प्रथा के रूप में उजागर है ।

दलित साहित्य उन सबकी वेदना की प्रखर अभिव्यक्ति है जो शोषित व पीड़ित है । यह मानव की स्वतन्त्रता की मुखर अभिव्यक्ति है, जो एक साहित्यिक भाषा में उजागर है । इसमें दलितों की अभिव्यक्ति की यथार्थपरकता व सत्य का समर्थन है ।

दलित साहित्य एक प्रकाशपुंज है जो परम्परागत अंधेरों को तोड़कर उजाले की ओर बढ़ा है। साहित्य समाज का दर्पण होता है । उसमें एक चेतना होती है, दृष्टि होती है जिसके तहत वह साहित्य दर्पण नहीं, बल्कि आगे बढ़कर समग्र जीवन को अभिव्यक्ति करता है । इसी अभिव्यक्ति की एक महत्वपूर्ण धारा दलित साहित्य है । यह उन लोगों का जीवन दर्पण है जो सदियों से अत्याचार - अन्याय सह रहे हैं । यह उन लोगों की जुबान है जो उपेक्षित, पीड़ित, शोषित व दलित है । यह शोषित व शोषकों का दिग्दर्शक है, उनकी जीवन चर्या है ।

दलित साहित्य सामाजिक आन्दोलन का एक बीजमंत्र है । जो अपने अस्तित्व, शोषक वर्ग के खिलाफ अपने अधिकारों की मांग हेतु रचित दलित दस्तावेज है । साहित्य को इस हथियार के रूप में, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक विषमता को उखाड़ फेंकने व तोड़ करने हेतु स्वीकारा गया है। एक प्रकार से दलित साहित्य जिजीविषा का साहित्य है । यह उस वेदना का साहित्य है, जो वर्ण-व्यवस्था की उपज है इसमें वर्ण भेद का विरोध नहीं, बल्कि उसकी मूलोच्छेद की कामना व्यक्त हुई है ।

उपर्युक्त विमर्श के आलोक में हिन्दी के दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि द्वारा रचित "जूठन" व मराठी के सुप्रसिद्ध दलित रचनाकार शरण कुमार लिंबाले रचित "अक्करमाशी" शोषक आत्मकथात्मक कृतियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । क्योंकि ये समाज में शताब्दियों से चले आ रहे वर्णाश्रमवादी शोषण और उसके पीछे सक्रिय सवर्ण मानसिकता को भी प्रस्तुत करती है ।

ओमप्रकाश वाल्मीकि और शरण कुमार लिंबाले दलित/सर्वहारा व बहुजनों के दरवाजे के बाहर खड़े रहने की मार्मिकता को प्रस्तुत करती है । वाल्मीकि जी ने प्रारंभ में "लेखक की ओर से" में लिखा है कि दलित जीवन की पीड़ाएँ असहनीय और अनुभव-दग्ध है । ऐसे अनुभव जो साहित्यिक अभिव्यक्तियों में स्थान नहीं है, जो बेहद क्रूर अमानवीय है । दलितों के प्रति असंवेदनशील भी ।

वस्तुत: ओमप्रकाश वाल्मीकि एवं शरण कुमार लिंबाले की आत्मकथात्मक कृतियाँ उन क्रूरतम पन्नों को बताती है, जो हमारी अन्तरात्मा को भी झकझोर देने के लिए काफी है । महानगर में रहते हुए जिस समाज की कल्पना भी हम नहीं कर सकते उसके यथार्थ से ये कृतियाँ हमें अवगत कराती है । यह कटु सत्य है, जो दिल को बहलाता नहीं बल्कि दहलाता है ।

"जूठन" एवं "अक्करमाशी" की रचना प्रक्रिया पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि जहाँ "जूठन" के लेखक ने हिन्दी के जाने-माने पत्रकार और विचारक श्री राजकिशोर की प्रेरणा से अपनी आत्मकथात्मक कृति का लेखन आरंभ किया वहीं शरणकुमार लिंबाले के प्रेरणा स्त्रोत रहे हैं - श्री सूर्यनारायण रणसुभे - जो कि अक्करमाशी के हिन्दी अनुवादक भी हैं । इस सन्दर्भ में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने खुद लिखा है कि "अपनी व्यथा - कथा को शब्द बद्ध करने का विचार, काफी समय से मन में था लेकिन प्रयास करने के बाद भी सफलता नहीं

मिली थी । कितनी ही बार लिखना शुरू किया और हर बार लिखे गए पन्ने फाड़ दिए । कहाँ से शुरू करूँ और कैसे ? यही दुविधा थी । कुछ मित्रों की राय थी, आत्मकथा के बजाय उपन्यास लिखो····अचानक दिसम्बर, 1993 में राजकिशोर जी का पत्र आया । वे "आज के प्रश्न" शृंखला में "हरिजन से दलित" पुस्तक की योजना बना रहे थे । वे चाहते थे, उस पुस्तक के लिए दस-ग्यारह पृष्ठों में अपने अनुभव आत्मकथात्मक शैली में लिखूँ । उनका आग्रह था अनुभव सच्चे एवं प्रामाणिक हों । पात्रों के नाम चाहे तो बदल भी सकते हैं । राजकिशोर जी के इस पत्र ने मेरे मन में बेचैनी पैदा कर दी थी ।

कुछ दिन दुविधा में निकल गए । एक पंक्ति तक नहीं लिख पाया । इसी बीच राजकिशोर जी का दूसरा पत्र आ गया था, अल्टीमेटम के साथ । जनवरी'94 के अन्त तक सामग्री भेजो । पुस्तक प्रेस में जाने के लिए तैयार है पता नहीं राजकिशोर जी के पत्र में ऐसा क्या था । मैंने उसी रात अपनी शुरुआती दिनों के कुछ पृष्ठ लिख डाले और अगले ही दिन राजकिशोर जी को भेज दिए । सप्ताह - भर उत्तर की प्रतीक्षा की, फोन पर बात हुई, उस सामग्री को छाप रहे थे ।

"हरिजन से दलित" पुस्तक में पहला ही शीर्षक था -- "एक दलित की आत्मकथा" । पुस्तक छपते ही पाठकों के पत्रों का सिलसिला शुरू हो गया था दूर-दराज ग्रामीण क्षेत्रों तक से पाठकीय प्रतिक्रियाएँ मिली थी । दलित वर्ग के पाठकों को उन पृष्ठों में अपनी पीड़ा दिखाई दे रही थी । सभी का आग्रह था, मैं अपने अनुभवों को विस्तार से लिखूँ ।" (जूठन पृ॰सं॰ 78)

इसी प्रकार "अम्मरमाशी के लेखक शरण कुमार लिंबाले ने भी लिखा है कि "अक्करमाशी" शीर्षक से मैंने आत्मकथा लिख दी । बहुतों ने इस पर लिखा ।

मैंने भी लिखा । इसके सम्बन्ध में बोलता भी रहा । परन्तु "अक्करमाशो" लिखने से पूर्व की अपनी मानसिकता पर मैं मौन ही रहा । दरअसल उसी मानसिकता ने मुझे यह आत्मकथा लिखने पर मजबूर किया है ---

"अक्करमाशो" लिखने से पूर्व मैंने करीब-करीब सारी "दलित आत्मकथाएँ" पढ़ डालीं । मराठी में प्रकाशित अन्य आत्मकथाएँ भी पढ़ गया । इन सबमें व्यक्त जीवनों से मेरा जीवन भिन्न है, इसका विश्वास हुआ । इस भिन्नता ने ही आत्मकथा लिखने में मुझे प्रवृत्त किया । मैं लिखता गया । केंचुल फेंककर साँप जैसे बाहर आता है, वैसे ही मैं "अक्करमाशो" से बाहर आ गया । अब मुझे किसी से भय नहीं, कोई हीनता - ग्रन्थि नहीं । (इंस मार्च 94 पृ॰ 33)

इन दोनों ही विवेच्य आत्मकथात्मक कृतियों से गुजरते हुए यह प्रतीत होता है कि, इन रचनाकारों में लेखन के क्रम में गहन मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का सामना करते हुए "दलित" जाति में जन्म लेने के कारण स्वभावत: पैदा हुई उस हीनता ग्रन्थि से खुद को क्रमश: विमुक्त किया है, जिससे कई बार अपने घनघोर विद्रोही तेवर के बावजूद मध्ययुगीन सन्तकवि भी ग्रस्त देखे जाते हैं । कबीर जब कहते हैं कि ....

"पूरब जनम हम ब्राँहमन होते, वोछैं करम तप होना ।
रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीन्ह ।"

(कबीर ग्रन्थावली : पृ॰ 129)

तो वर्णाश्रम - धर्म के विरुद्ध आग उगलने वाले एक विद्रोही कवि - व्यक्तित्व में निहित इस असंगति पर, सिर धुनने की अब कोई जरूरत नहीं है ।

समाज में तथाकथित हीन मानी जाने वाली जातियों में पैदा होने वाले विद्रोही लेखकों के व्यक्तित्व में निहित इन असंगतियों पर ऐतिहासिक - समाज शास्त्रीय दृष्टि से विचार करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने सही लिखा है कि "इस असंगति का पहला कारण वर्ग-युक्त समाज में शासक वर्ग के दर्शन का प्रभाव है । इस दर्शन ने जनता को यह सिखाने की कोशिश की थी कि संसार मिथ्या है, इसलिए मनुष्य को इसी संसार में अपने सुखी-जीवन के लिए लड़ना आवश्यक नहीं है । इस दर्शन ने मनुष्य को सिखाया था कि उसके दुखों और निर्धनता का कारण सामाजिक व्यवस्था नहीं है, शासक वर्ग द्वारा अपने मेहनत का फल छीनना नहीं है वरन् उसके कर्मों का फल है, पूर्व जन्म के पाप है, ईश्वर से काकी प्रार्थना न करना है, इत्यादि ।..... मध्यकालीन साहित्य पर भाग्यवाद, मायावाद, निष्क्रियता आदि की भावनाओं का असर है । इसका ऐतिहासिक कारण है उस समय के जन-जीवन की सीमाएं हैं ।" (परम्परा का मूल्यांकन : पृ० 48)

सच तो यह है कि इतिहास के किसी कालखण्ड विशेष में जिस वर्ग का समाज में प्रभुत्व होता है वही संस्कृति का भी नेतृत्व करता है "वह समाज और संस्कृति के क्षेत्र में अपनी भावधारा और अपनीजीवन दृष्टि का इतना अधिक प्रचार करता है कि उसकी एक परम्परा बन जाती है । यह परम्परा भी इतनी पुष्ट , इतनी भावोन्मेषपूर्ण और विश्व - दृष्टि समन्वित होतीहै, कि समाज का प्रत्येक वर्ग आच्छन्न हो जाता है ।" (मुक्तिबोध रचनावली भाग-4, पृ०568)

उपर्युक्त सच्चाई के बावजूद विवेच्य दोनों ही आत्मकथात्मक कृतियों से गुजरते हुए यह एहसास होता है कि दोनों ही रचनाकारों में अपनी जीवन स्थितियों के यथार्थ चित्रण के साथ-साथ उस दर्शन की तलाश हेतु एक बेचैनी

दिखाई पड़ती है जो दलितों को धर्म की दासता से पूर्णतया मुक्त कर दे ।

सच तो यह है कि ओमप्रकाश वाल्मीकि व x शरण कुमार लिंबाले दलित समस्याओं के कुछ छुट-पुट समाधान में विश्वास नहीं करते । वे यथार्थ जीवन से कटकर तर्क के हेत्वभासों में नहीं जीना चाहते ।

ग्रंथानु क्रमणिका

आधार ग्रन्थ सूची

क्रमांक संख्या	लेखक	पुस्तक	प्रकाशक	प्रकाशन वर्ष एवं संस्करण
1।	वाल्मीकि, ओमप्रकाश	जूठन	राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली,	1997 प्रथम
2।	लिंबाले, शरण कुमार	अक्करमाशी । अनुदित ।	ग्रन्थ अकादमी नई दिल्ली	1997 प्रथम

सहायक ग्रन्थ सूची

1।	डॉ. सिंह, एन	दलित साहित्य चिन्तन के विविध आयाम	आम प्रकाशन बम्बई	
2।	गुप्ता, रमणिका	दलित चेतना: साहित्य	नवलेखन प्रकाशन बिहार	1996 प्रथम
3।	सिंह, कृष्ण कुमार	सन्त काव्य के विकास में वर्ण, जाति और वर्ग की भूमिका	साहित्य भण्डार इलाहबाद	19987 प्रथम
4।	डॉ. कौर्ति, विमल	बौध्द धर्म के विकास में	संगीता प्रकाशन दिल्ली	1994 प्रथम
		डॉ. बी.आर अम्बेडकर का योगदान		
5।	डॉ. जाधव, बलवन्त साधु	प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना	अलका प्रकाशन कानपुर	1992 प्रथम

क्रम संख्या	लेखक	पुस्तक	प्रकाशक	प्रकाशन वर्ष एवं संस्करण
6।	सिंह, नरेन्द्र	दलितों के रूपान्तरण की प्रक्रिया	राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली	1993 प्रथम
7।	जगजीवनराम बाबू	भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या	राजपाल एण्ड सन्स , दिल्ली	1981 प्रथम
8।	किशोर, राज	हरिजन से दलित	वाणी प्रकाशन नई दिल्ली	1995 द्वितीय
9।	थोरात, विमल	मराठि दलित कविता और साठो-तरी हिन्दी कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना	हिन्दी बुक सेन्टर नई दिल्ली.	1996 प्रथम
10।	डॉ. विद्यालंकार, विश्वबन्धु शास्त्री.	हिन्दी का आत्म-कथा साहित्य	राधा कृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली.	
11।	शर्मा, रामशरण	भारतीय सामन्तवाद	राजकमल प्रकाशन दिल्ली.	1993 प्रथम
12।	वर्मा, जनेश्वर	हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना	ग्रन्थम प्रकाशन कानपूर	1994 प्रथम
13.	दामोदरन, के	भारतीय चिन्तन परम्परा	पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली,	1997 द्वितीय
14.	श्रीनिवास , एम. एन.	आधुनिक भारत में जातिवाद तथा अन्य	ग्रन्थ अकादमी भोपाल	1981 प्रथम सं.
। हिन्दी अनुशरद जोशी ।		निबन्ध		
15।	वर्मा, रामविलास	मार्क्स और पिछडे हुए समाज	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली	1986 प्रथम

क्रम. संख्या.	लेखक	पुस्तक	प्रकाशक	प्रकाशन वर्ष एवं संस्करण
16।	करि, धनजय	डॉ. अम्बेडकर जीवन और मिशन	पापुलर प्रकाशन बम्बई	1981
17।	कदर्म, जयप्रकाश	अम्बेडकर आन्दोलन दशा और दिशा	संगीता प्रकाशन दिल्ली	1991 प्रथम
18।	पण्डित , नलिनी	गांधी	सन्मार्ग. प्रकाशन दिल्ली.	1993 प्रथम
19।	अग्रवाल , गिरिराज शरण	गांधी ने कहा था	प्रतिभा प्रतिष्ठान दिल्ली.	1988 प्रथम
20।	डॉ. सिंह ,जी आर	भारतीय दलितों की समस्याएँ व उनका समाधान	मध्यप्रदेश आकादमी भोपाल	1956 प्रथम
21।	अमृतडांगे, श्रीपाद	भारत आहिमसात्मय-वाद से दास प्रथा तक का इतिहास	पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस बम्बई	1952
22।	सिंह, महीप ।बांदि वडेकर, - चन्द्रकान्त ।	साहित्य और दलित चेतना । अनुवाद ।	अभिव्यंजना प्रकाशन नई दिल्ली.	1982 प्रथम
23।	सरस्वती, स्वामी सहजानन्द	किसान कैसे लड़ते है?	पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली.	
24।	मार्क्स, एंगेल्स	कम्युनिस्टपार्टी का घोष्णापत्र ।अनुवाद।	प्रगति प्रकाशन मास्को	

क्रम संख्या	लेखक	पुस्तक	प्रकाशन	प्रकाशन वर्ष एवं संस्करण
25	नैमिशराय, मोहनदास	अपने- अपने पिंजरे	वाणी प्रकाशन नई दिल्ली.	1997 प्रथम
26	बोरा, राजकमल (अष्टे कर गणेश)	मराठी :भाषा और साहित्य	नेशनल पब्लिशिंग	1986 प्रथम
27	घुरे , जी. एस.	कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया	बम्बई	1950 प्रथम
28	रंजन , रवि	प्रगतिवादी कविता मे वस्तु और रूप	मिलिन्द प्रकाशन हैदराबाद	1995 प्रथम
29	जैन, नैमिचन्द	मुक्ति बोध रचना वली (भाग पाँच)	राजकमल प्रकाशन दिल्ली	1985 प्रथम

पत्रिकाएँ

1 कथ्यरूप	त्रैमासिकी	अनिल श्रीवास्तव
2 अग्-तर	त्रैमासिक	तुलजाराम बाग, इलाहबाद डॉ. विमल कीर्ति के. एल. मोरिया नागपुर
3 अस्मितादर्श	त्रैमासिकी	गंगाधर पनवता वगे औरंगाबाद
4 हंस	मासिक	राजेन्द्र यादव अक्षर प्रकाशन , नई दिल्ली,
5 मधुमती	मासिक	डॉ. राधेश्याम शर्मा राजस्थान साहित्य अकादमी , उदयपुर

6 मराठी ग्रन्थ

क्रम संख्या	लेखक	पुस्तक	प्रकाशन	प्रकाशन वर्ष एवं संस्करण
1	कडके, मालचन्द्र	दलित साहित्याचो प्रकाश यात्रा	आनन्द प्रकाशन औरंगाबाद	1980 प्रथम
2	कवठेकर, बालकृष्ण	दलित साहित्य एक आकलन	अजब पुस्तकालय कोल्हापुर	1981 प्रथम

अंग्रजी ग्रन्थ

क्रम संख्या	लेखक	पुस्तक	प्रकाशक	प्रकाशन वर्ष एवं संस्करण
1.	Massey James	Down Trodden	World Council of Churches Switzerland	1997 W.C.C.
2.	Scott; P. Willim	Dictionary of Sociology	Goyal Saab Delhi.	1998 First Ad.
3.	Dewey. Jhon	Art an Expcri-encers	Mintan Balck Company New York	1934 first ad
4.	Banrgee A.C.	Lecture in Rajput History.	कलक-ता	1972 first ad.

ग्रन्थ

1.	सम्पूर्ण गांधी वाड्मय	सूचना और प्रसारण मन्त्रालय भारत सरकार	1972
2.	Encyclopaedia Britanca	Standard Eduction Chicago.	